स्वराज्य संस्कृति के संतरी

लेखक

काका साहब कालेलकर

स्वराज्य संस्कृति के संतरी

लेखक

काका साहब कालेलकर

"केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा और समाज कल्याण-मंत्रालय, भारत सरकार की ओर से भेंट"

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

प्रकाशक :
जयकृष्ण अग्रवाल,
कृष्णा ब्रदर्स,
कचहरी रोड, अजमेर

संस्करण १९७२

मूल्य : 6.50

मुद्रक :
एच. सी. कपूर,
टाइम्स प्रिंटिंग प्रेस,
ब्रह्मपुरी, अजमेर

प्रकाशकीय

कहते हैं कि कलियुग में बुराई का प्रभाव अधिक होता है। लेकिन कलियुग की निंदा करने वालों के ध्यान में शायद एक बात नहीं आयी होगी कि असाधारण कोटि के लोकसेवकों की पैदाइश भी कलियुग में ही अधिक से अधिक होती है। कलियुग के और कितने ही दोष हों, संत-प्रकृति के लोक-सेवकों के मामले में उसमें वंध्यत्व नहीं दिखाई देता।

हमारे इतिहास के कलियुग में—हमारी गुलामी के काल में—इस देश में ऐसे कई नररत्न पैदा हुए जिन्होंने इस देश के उत्थान के लिये, और उसे आगे बढ़ाने के लिये, अपना पूरा जीवन अर्पित किया था। असल में वे सब 'दिग्पाल' थे, जिन्होंने देश सेवा का एक-एक क्षेत्र संभाला था—चाहे राजनैतिक क्षेत्र हो, शैक्षणिक हो, व्यायाम का क्षेत्र हो या संगीत का हो। एक दृष्टि से देखा जाय तो स्वराज्य युग के ये सत्पुरुष, देश सेवा के दीक्षागुरु थे। स्वराज्य-संस्कृति के संतरी थे।

ऐसे ही चन्द संतरी जैसे देश-सेवकों के चरित्र-कीर्तन की यह छोटी सी पुस्तक है।

श्रद्धेय श्री काका साहब जब अपने यात्रा-वर्णन लिखते हैं तब जिस प्रकार वे सौंदर्य-रसिक के साथ-साथ द्रष्टा के रूप में भी प्रतीत होते हैं, वैसे ही जब वे किसी के जीवन की ओर इशारा करते हैं तब उसमें उनकी शुभदृष्टि ही विशेष रूप में दीख पड़ती है—यानी, उस जीवन का जो सर्वोत्कृष्ट पहलू है वही वे हमें दिखाते हैं; उस पहलू के बारे में मित्र की अनुकूलता के साथ सोचते हुए दीख पड़ते हैं और उस जीवन ने जो कुछ कार्य किया हो उसमें सत्य-युग का जो अंश हो उसी को अधिक

प्रकट करते हैं। यह सब पढ़ते समय ऐसा ही लगता है—'काश ! काका साहब इन पुरुषों के बारे में और भी लिखते और जिनके बारे में उन्होंने अभी तक लिखा नहीं है उनके बारे में भी जल्दी लिख डालते !'

चरित्र-निर्माण की चाह रखने वाले सब माँ-बाप अपने नवजवान लड़के-लड़कियों के हाथ में ऐसी पुस्तकें अवश्य दें, जिससे वे देश सेवा की कुछ दीक्षा लें।

[२]

काका साहब की इस पुस्तक का संपादन भी उनके तरुण साथी श्री रवीन्द्र केलेकरजी ने किया है। इस संस्कृति-सेवा के लिये हम उनको धन्यवाद देते हैं। साथ ही साथ हम नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद को भी धन्यवाद देते हैं क्योंकि नवजीवन की इजाजत से ही हम काका साहब की पुस्तकें प्रकाशित कर सके हैं।

-जयकृष्ण अग्रवाल

अजमेर २६ जनवरी १६७३

अनुक्रम

——

हमारा जीवन इनसे उतरता न बने

जिनके बारे में हृदय के आदर के साथ कुछ न कुछ लिखने की मुझे प्रेरणा हुई, ऐसे लोगों को लेकर चंद चरित्र-कीर्तन-मालाएं तैयार करने का प्यारे संपादक जी को सूझा । अब तक उन्होंने हिन्दी जगत को मेरी दो किताबें दीं—(१) गांधी युग के जलते चिराग; इसमें महात्माजी के अत्यन्त महत्त्व के अनेक साथी लोग आ जाते हैं ।

जिनको मैं अपने आदरणीय साथी मानता हूँ, ऐसी भी चंद व्यक्तियाँ उन्होंने इनके साथ ले ली । किताब को नाम भी अच्छा मिला ।

उसमें मेरी इच्छा के विरुद्ध एक ही बात हुई जो मुझे दरगुजर करनी पड़ी । मेरी उस किताब में मेरे ही बारे में लिखे हुए तीन संस्मरण परिशिष्ट के रूप में इसमे आ गये हैं । मैं भी गांधीजी का एक नम्र सेवक हूँ, इसलिए इनकार हो नहीं सकता था । मैंने संतोष माना कि मेरे तीन आदरणीय साथियों के स्वभाव का और उनकी लेखन शैली का परिचय उन संस्मरणों द्वारा हो रहा है ।

संपादक महाशय ने 'गांधी युग के जलते चिराग' में अमेरिका के एक नीग्रो नेता को भी स्थान देकर गांधी युग को भारत के बाहर भी पहुँचा दिया । यह तो मुझे बहुत अच्छा लगा ।

इसके बाद की दूसरी किताब (२) 'नव भारत के चंद निर्माता' में अधिकांश तो मेरे गुरु-स्थानीय महापुरुष ही हैं । स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य तिलक, कविवर रवींद्रनाथ, योगीश्वर अरविंद और महात्मा जी । इन्हीं के द्वारा तो मैंने जीवन की प्रेरणा पायी । और मैं निश्चय से कह सकता हूँ कि जीवन-योग की दीक्षा देने वाला, और मेरी भक्ति का अधिकारी यही गुरु-पंचक है ।

पाठकों को तो यह किताब प्यारी हुई ही है । लेकिन अपने हृदय के भक्तिभाव मैं यहाँ व्यक्त कर सका इसकी मुझे तो धन्यता ही है ।

इन दो किताबों के बाद यह तीसरा संग्रह आता है। (३) 'स्वराज्य संस्कृति के संतरी' इसमें चालीस से अधिक व्यक्तियों को मेरे हातों अर्पण की हुई और श्रद्धांजलियाँ हैं। इनमें दो तो मेरे किसी समय के विद्यार्थी थे; और दो में से एक तो जीवित हैं और अपनी ठोस राष्ट्र-सेवा से वे मेरा वचन सिद्ध कर रहे हैं कि 'मेरे विद्यार्थियों ने मेरा जीवन धन्य किया है।'

जिस विद्यार्थी का देहान्त हो गया उन परीक्षितलाल भाई मजुमदार ने मेरी ही प्रेरणा से, अपनी उम्र के ६५ वें वर्ष तक हरिजनों की और खास करके पिछड़ी हुई स्त्री जाति की अद्‌भुत सेवा चलायी थी।

इस तीसरी किताब में उत्तम राष्ट्र सेवकों का जिक्र आया है, उनमें जो चार जीवित हैं, चार प्रकार के हैं। उनमें से बबलभाई मेरे विद्यार्थी हैं, जिनका जिक्र मैंने ऊपर किया ही है। बादशाहखान अपनी सेवा भारत को, पाकिस्तान को, अफगानिस्तान को, और इस्लाम को देते ही रहे हैं। पं० सुखलालजी तो गुजरात विद्यापीठ के हमारे आदरणीय साथी। उनको दी हुई श्रद्धांजलि में, मैंने उनसे दो बातों की अपेक्षा की है। देखना है, ये दो बातें उनसे कब मिलती हैं।

इस किताब के चौथे जीवित व्यक्ति मेरे पुराने परिचित श्रीजगजीवन रामजी हैं। हरिजनों को न्याय प्राप्त करने के लिये सवर्णों से लड़ने का उनका पूरा हक था। लेकिन इन्होंने अपना पिछड़ापन प्रत्यक्ष सेवा द्वारा दूर किया। और अब भारत-सरकार में वे सारे राष्ट्र की सेवा करने के लिये अत्यन्त महत्व के मंत्री बन गये हैं।

चरित्र-कीर्तन रूपी इस तीसरे ग्रंथ का प्रारंभ हिंद के दादा दादा-भाई से हुआ है। यह तो यथायोग्य ही है। इनके बाद तुरन्त न्यायमूर्ति रानडे को ही दूसरा स्थान देना चाहिये था। लेकिन वह मेरी अंजली कहीं भी प्रगट हो, उससे मेरी भक्ति कम नहीं बनती।

(कितनी खुशी की बात है कि जिस ग्रंथ में श्री दादाभाई नवरोजी को अंजलि अर्पण की गयी है उसी में उनकी पौत्री श्रीमती पेरिन बहन को

भी स्थान है ! दादाभाई नवरोजी का दर्शन करने का सौभाग्य भले ही मुझे न मिला, श्रीमती पेरिनबहन से विचार-विनिमय करना, उनके काम का निरीक्षण करना और उनको साथ बिठा कर आगे की योजनाएँ बनाना, इस तरह उनके साथ सहयोग काफी समय तक मैं कर सका।

एक विचार मन में आया कि यहाँ के तीन दर्जन से अधिक व्यक्तियों में महिला तो यह एक ही है। इससे बेहतर होता, कि महिलाओं को समय-समय पर दी हुई श्रद्धांजलियाँ रवीन्द्र जी एक अलग किताब में लाते। (मुझे पता नहीं कि किन किन महिलाओं को मैंने श्रद्धांजलियाँ आज तक अर्पण की हैं। अगर वे ज्यादा नहीं है तो यह मेरी बहुत बड़ी त्रुटि कहनी चाहिये। अत्यन्त आदर से अंजलि अर्पण करने योग्य कितनी ही महिलाओं के नाम इस वक्त मन में जाग रहे हैं।)

दादाभाई नवरोजी और महामति रानडे के बाद उतने ही आदरणीय व्यक्ति हैं, बंगाल के चित्तरंजन दास और उत्तर प्रदेश के बाबू भगवानदास।

यूँ तो हमारे प्रारंभ के दिनों में लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और बिपिनचंद्र पाल ये तीन राष्ट्रीय नेता लाल बालपाल के नाम से परिचित थे। इनमें से यहाँ हैं लाला लाजपतराय। उनका मैं दर्शन कर सका था। उनसे बातचीत भी कर सका था। बाल गंगाधर तिलक तो महाराष्ट्र के हम नवयुवकों के हृदय के स्वामी। बिपिनपाल की किताबें मैंने बड़े चाव से पढी थीं। थोडे ही दिनों में बंगाल में अगर श्री अरविंद घोष का उदय नहीं हुआ होता तो बिपिनपाल ही बंगाल के नेता गिने जाते। लेकिन उनकी तकदीर में यह नहीं था। हम क्रांतिकारियों के मन में जो भक्ति लोकमान्य तिलक के प्रति थी वही भक्ति, अपने तेजस्वी साहित्य के और क्रांतिकारी विचारों द्वारा श्री अरविंद घोष ने देखते देखते पा ली। हम मानते थे कि अरविंद घोष इटली के देशभक्त मँझिनी से सौ गुने श्रेष्ठ हैं। लेकिन उन्होंने राजनीति ही छोड़ दी। इस कारण हम जरूर मायूस बनते। लेकिन श्री अरविंद ने अध्यात्म के क्षेत्र में एक असाधारण योगी का स्थान ले लिया और

हमें पूरे हृदय से उनकी भक्ति करनी पड़ी—एक क्रांन्तिकारी नेता को हमने खोया और अपने जमाने के एक महायोगी को पाया । हमारी मायूसी भक्ति में, आदर में, और अभिमान में, विलीन हो गयी ।

इस किताब में तीन महाराष्ट्री नाम एक साथ, एक के पीछे एक, आने चाहिये थे । स्वतन्त्र भारत की लोकसभा के सबसे पहले स्पीकर दादा साहेब मावलंकर, महिला-वत्सल प्राध्यापक कर्वे और बम्बई के मुख्य प्रधान श्रीबालासाहेब खेर । बालासाहेब को मैं सर्वांगीण नेता मानता हूँ । जीवन का एक भी क्षेत्र नहीं है, जिसमें उनके चारित्र्य की चमक प्रगट न हुई हो ।

समस्त सामाजिक जीवन के नेता नहीं, किन्तु अपने अपने क्षेत्र के जो अद्वितीय नेता बन गये ऐसे दो व्यक्ति इस ग्रंथ में स्थान पा चुके हैं । दोनों की राष्ट्रीयता उच्च कोटि की थी । संगीत के क्षेत्र में श्री विष्णु दिगबर पलुस्कर; और कुस्ती आदि व्यायामविद्या, अस्थिसधान आदि आरोग्य-विद्या और हर तरह की राष्ट्रसेवा, सबमें अद्वितीय स्थान पानेवाले श्रीमाणिकराव, ये दोनों इस ग्रंथ में आये हैं । सिंध के श्रीगिदवाणीजी और जसानीजी, आसाम के गोपीनाथजी बरदलै, पंजाब के श्रीअचिंतराम, इनके जैसे अपने अपने प्रदेश की गहरी सेवा करने वाले लोग भी यहाँ हैं । और मौलाना आजाद जैसे और आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे अखिल भारतीय चिंतन करने वाले लोग भी यहाँ हैं ।

मैं देख रहा हूँ कि जिनकी देखरेख के नीचे मैंने देश की सेवा शुरू की ऐसे परम आदरणीय श्रीगंगाधरराव देशपांडे और बैरिस्टर देश पांडे से प्रारंभ करके ऐसे भी लोगों का चरित्र यहाँ आया हैं, जिनके साथ मेरा संबंध अत्यंत घनिष्ठ हो गया था । पूना में रहने वाले डॉ लागू, श्री जयकृष्ण त्रिवेदी और हरिभाऊ फाटक, सौराष्ट्र की दक्षिणामूर्ति के संस्थापक श्रीनानाभाई और श्रीगिजुभाई, दीर्घकालतक मेरे साथ सहयोग करने वाले श्रीचिंतामणि शास्त्री और गुजरात विद्यापीठ में तत्त्वज्ञान विभाग को संभालने वाले पं. सुखलालजी ऐसे ऐसे निकट के लोग भी यहाँ पर अनायास लिये गये हैं । बाबा राघवदास, श्री विनोबाजी के साथी धोत्रेजी आदि लोगों को भी मैं इसी वर्ग में लेता हूँ ।

अगर गांधीजी की प्रेरणा से मैं राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का काम लेकर सारे भारत में नहीं घूमा होता तो भारतरत्न टंडनजी, लाल बहादुर शास्त्री, गोपबाबू, पंतजी आदि लोगों के परिचय में नहीं आता।

पाठकों से मैं इतना ही कहूँगा कि स्वराज्य की याने 'भारतीय स्वतन्त्रता की' जबरदस्त प्रेरणा से जिन लोगों का चारित्र्य खिल उठा ऐसे तेजस्वी-प्रेरणादायी संस्कृति-सेवकों का थोड़ा बहुत परिचय यहाँ पर उन्हें मिलेगा। ऐसे ही लोगों की तपस्या से मातृभूमि के कपाल पर का, पारतंत्र्य का काला धब्बा दूर हो गया। हमारी स्वतन्त्रता का अधिकार जिन्हें मिला है वे सब भारतवासी स्वराज्य-संस्कृति के इन संतरियों का यहाँ परिचय पाकर अपने मन के साथ तय करें कि 'इस भाग्यशाली भारत माता की सेवा के लिये हम अपने चारित्र्य का विकास कैसे कर लें? हमारा जीवन इनसे हरगिज उतरता न बनें'।

वंदेमातरम्

काका कालेलकर

मकरसंक्रांति
ता. १४ जनवरी' ७३
बम्बई

१

भारत-पितामह दादाभाई नवरोजी

आज तीस जून का दिन है। सारी जिन्दगी जिन-जिन लोगों ने स्वराज्य-प्राप्ति का ध्यान किया और उसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न किये उन सब को आज के पवित्र दिन दादाभाई का स्मरण होना स्वाभाविक है। राष्ट्रीयता के पितामह समान दादाभाई राष्ट्रीय महासभा—कांग्रेस के जन्मदाताओं में से एक थे। जो लोग मानते हैं कि भारत का नेतृत्व प्रधानतया वकील और बॅरिस्टरों ने ही किया है उन को याद दिलाना आवश्यक है कि स्वराज्य-सेवा में अध्यापक-वर्ग का भी ऊँचा स्थान है। दादाभाई नवरोजी से लेकर योगी अरविन्द घोष तक कई तेजस्वी अध्यापकों ने स्वराज्य की सेवा की है।

भारत की राष्ट्रीयता धर्म से परे है। भारतीय संस्कृति सब धर्मों को, सब जातियों को और सब वंशों (Races) के लोगों को अभेद बुद्धि से अपनाती है। जब तक यह अभेद बुद्धि दृढ़ रहेगी तब तक भारत की भावनात्मक एकता दृढ़ रहने वाली है। इस सार्वभौम सिद्धांत का साक्षात्कार जिन लोगों को हुआ था उन्हीं के द्वारा कांग्रेस की स्थापना हुई थी।

सन् १८५७ में भारत ने स्वतन्त्र होने का जो प्रयास किया उसकी बुनियाद में हिन्दू-मुस्लिम का सहयोग तो था ही। लेकिन वह सहयोग समन्वयमूलक साबित नहीं हुआ। इसलिए अंग्रेजों ने ५७ की उस एकता से सबक सीखकर बड़े पैमाने पर भेद नीति का अवलम्ब किया और हिन्दू-मुसलमानों में फूट डालने का एक भी अवसर नहीं छोड़ा। अंग्रेज

जानते थे कि भारत के लोगों में उनकी परम्परागत समन्वय-वृत्ति बहुत ढीली हुई है। फूट डालने का कोई भी प्रयत्न हुआ तो उसमें सफलता मिलने वाली ही है। भारत में इतनी राजनैतिक दीर्घदृष्टि नहीं है कि फूट डालने के हर एक प्रयत्न को तुरन्त पहचान कर उसे, उगने के पहले ही, खत्म कर डाले।

अँग्रेज हमारी कमजोरी पहचान गये तो कांग्रेस के दीर्घदर्शी संस्थापक भी पहचान गये थे कि हमारी भेद-प्रियता अँग्रेज समझ गये हैं और उसके बल पर यहाँ का अपना राज्य मजबूत कर रहे हैं। इसलिए कांग्रेस के संस्थापकों ने प्रण किया कि भारत का स्वराज्य का सारा आंदोलन धर्मनिरपेक्ष रहेगा। सब धर्मों के लोग एक साथ काम करेंगे। इतना ही नहीं किन्तु इस भूमि में सब धर्मों के प्रति आदर ही रहेगा। और केवल संख्या के बल पर किसी भी धर्म की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा नहीं रहेगी। कांग्रेस की बुनियाद में ही सर्व-धर्म-समभाव बोया हुआ है। इसी का प्रतीक था दादाभाई नवरोजी का नेतृत्व।

दादाभाई नवरोजी जाति के पारसी थे, जिनकी संख्या भारत में सवा लाख से अधिक नहीं होगी। लेकिन दादाभाई का हृदय भारत जितना विशाल था। उनका ध्यान और उनकी भक्ति भारत माता के चरणों में अर्पित थी और समूचा भारत भी दादाभाई नवरोजी की ओर पितृभक्ति से देखता था। मृत्यु के समय उनकी उम्र ९२ साल की थी।

'स्वराज्य की माँग सारे भारत के हृदय में उठी है। स्वराज्य पाये बिना भारत को चैन नहीं है:' यह बात भारत के शासक अंग्रेजों को अपने ढंग से समझाने के लिए दादाभाई विलायत गये और वहां के लोगों का विश्वास और आदर प्राप्त करके वे वहाँ के लोगों के वोटों के बल पर ब्रिटिश पार्लिमेंट के सदस्य हुए। सारी जिन्दगी उन्होंने भारत की सेवा में व्यतीत की। और जब तक अँग्रेजों का राज्य भारत पर है तब तक भारत का दारिद्रय दूर होने वाला नहीं है, यह बात उन्होंने पूरे-पूरे सबूत के साथ दुनिया के सामने जाहिर की अपनी किताब (Poverty

and Un-British rule in India) के द्वारा । दादाभाई की यह किताब हमारा सर्वप्रथम राजनैतिक दस्तावेज था ।

जब भारतीय कांग्रेस में नरमदल और गरमदल ऐसा भेद और झगड़ा शुरू हुआ तब एक दफे नरमदल ने दादाभाई नवरोजी को कांग्रेस का अध्यक्ष पद लेने के लिए (तीसरी दफे) बुलाया । गरमदल ने तुरन्त उनके सामने सिर झुकाया और उनका नेतृत्व मंजूर किया । और दादाभाई नवरोजी ने भी समन्वयवृत्ति धारण करके अपने अध्यक्षीय भाषण में जाहिर किया कि स्वराज्य ही कांग्रेस का और भारत का राजनैतिक आदर्श हो सकता है । इस तरह दादाभाई नवरोजी ने कांग्रेस के मंच पर से सर्वप्रथम स्वराज्य की घोषणा की । नामदार गोखले, सर फिरोज़शाह महेता, दीनशा एदलजी वाच्छा, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी सब तरह के भारत नेता दादाभाई के प्रति पूज्यभाव रखते थे । और दादाभाई के हृदय में समूचे भारत की सेवा के सिवा दूसरा कुछ था ही नहीं ।

दादाभाई नवरोजी जैसे भारत भक्त पुण्य-पुरुषों की तपस्या के फलस्वरूप हम भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके । और आज भारत में जो भी एकता पायी जाती है वह भी दादाभाई नवरोजी जैसे उदार हृदय के पितामहों की दीर्घदृष्टि और शुद्ध नीति के कारण ही है । उनका हार्दिक श्राद्ध करना हमारे लिए स्वाभाविक भी है और पुण्य कर्त्तव्यरूप भी है ।

३०-६-६६

२

लाला लाजपतराय का पुण्य-स्मरण

जब हम कॉलेज में पढ़ते थे तब राष्ट्रीय वृत्ति से तीन देश-भक्तों के नाम साथ लेते थे, लाल, बाल और पाल। इनमें से बाल गंगाधर तिलक के सम्पर्क में हम घनिष्ठ रूप में आते थे। बिपिनचन्द्र पाल का साहित्य, खास करके उनके व्याख्यान, सुनकर हम प्रभावित होते थे। लाला लाजपतराय को देखने का मौका नहीं मिला था। लेकिन उनके विचार, उनकी सेवाएँ और उनके उज्जवल चारित्र्य से हम युवक वर्ग प्रभावित थे।

एक दफे अमेरिका जाने के लिए वे बम्बई आये थे। होटल में ठहरे थे। मैं उनसे मिलने गया। बड़े प्रेम से मिले। कहने लगे "यात्रा के लिए तुरन्त जाना है। व्यस्त हूँ।" मैंने कहा "मैं अक्षरशः आपका केवल दर्शन करने आया हूँ। एक शब्द भी बोलने की तकलीफ आपको नहीं दूंगा। एक कोने में खड़ा रहकर केवल आपको देखूंगा। जब आँखें तृप्त होंगी, चुपचाप चला जाऊँगा। आप अपना काम करें।" लालाजी प्रेम से हंसे। उनकी आँखों में वात्सल्य देखकर मैं तृप्त हो गया।

यह था मेरा लालाजी का प्रथम दर्शन और परिचय। पंडित सुन्दर-लालजी से मैंने लालाजी के बारे में बहुत कुछ सुना था। उन दिनों वे लालाजी के परमभक्त थे।

बहुत वर्षों के बाद जब मैं गांधीजी के आश्रम में रहने लगा और आश्रम के 'विद्या मंदिर' का आचार्य बना तब कई बार लालाजी से मिल सका। मैंने देखा कि लालाजी लोकमान्य तिलक के जैसे ही उज्ज-

वल देशभक्त थे। किन्तु तिलक के जैसे झगड़ालू नहीं, दृढ़ किन्तु सौम्य है इसीलिए उनके प्रति आदर बढ़ता गया।

एक मामूली संस्मरण खास याद है।

लालाजी के ओर मेरे समान परिचित एक स्नेही के बारे में मैंने उनसे पूछा। कहने लगे "वे इन दिनों बीमार हैं।" मैंने पूछा "उनको क्या हुआ है? ऐसी युवावस्था में बीमार क्यों पड़े?" हँसकर कहने लगे "क्या आप नहीं जानते, बहुत से आदमी ज्यादा खाकर ही बीमार पड़ते हैं? आदमी अगर खाने में संयम रखे तो कभी बीमार होगा ही नहीं।" अनेक लोगों के निरीक्षण से वे इस नतीजे पर पहुँचे थे उसी का जिक्र उन्होंने इन शब्दों में किया।

मुझे खुशी इस बात की हुई कि लालाजी केवल धर्म-सुधार और राजनीति के चिन्तक और नेता नहीं थे। समस्त जीवन की छोटी-मोटी बातों का एक सा ध्यान उन्हें था।

मैंने सुना था कि जाड़ों के दिनों में कंधे पर कम्बल लेकर रात को वे चुपचाप रास्ते पर जाते थे और किसी गरीब को परेशान होकर सोया हुआ देखा, तो उसके शरीर को कम्बल से ढक कर चले जाते थे। जब कभी मैं देशभक्ति की चर्चा करता हूँ तब कहता हूँ कि देशभक्ति के माने केवल यह नहीं कि भूमि के प्रति प्रेम, आदर और अभिमान। 'देश बधुओं का प्रेम और वात्सल्य', यही है देश भक्ति का सच्चा अर्थ। और मैं लालाजी का उदाहरण देता हूँ।

इसी प्रेम के कारण विरोधियों के प्रति भी उनके मन में उदारता रहती थी। उन्होंने कभी भी द्वेष अथवा तुच्छता आने नहीं दी। वे सच्चे आर्य थे।

१ मई १९६९

३

अमर राष्ट्रभक्त लाला हरदयाल

हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता के पीछे पागल बन कर जो लोग देश छोड़कर बाहर गये उनमें राजा महेन्द्र प्रताप और लाला हरदयाल के नाम विशेष रूप से याद आते हैं। दोनों ने इस देश में काफी काम करने के बाद विदेश का रास्ता पकड़ा। लाला लाजपतराय को भी इसी तरह विदेश में रहना पडा था, किन्तु वे यथासमय स्वदेश लौट सके। लाला लाजपतराय का रास्ता ऊपर बतलाए हुए दोनों देश-भक्तों से भिन्न था। लालाजी ने अमरीका में लिखी हुई अपनी 'यंग इण्डिया' नामक किताब में इन दोनों के बारे में काफी लिखा है।

सारे देश ने चाहा कि राजा महेन्द्र प्रताप को स्वदेश आने की इजाजत मिले। लाला हरदयाल भी अगर स्वदेश वापस आ सकते तो हर एक हिन्दुस्तानी को अत्यन्त आनन्द होता। किन्तु उन्हें हम इस देश में वापस ला सकें इसके पहले ही अमेरीका में उनका देहान्त हुआ।

लाला हरदयाल भारतीय स्वतन्त्रता के उपासक थे। उनके जीवन और विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। किन्तु उनकी भारत-भक्ति और आजादी की उपासना अखण्ड ही रही।

लाला हरदयाल के अनन्य देहान्त का करुणाजनक समाचार जब अख-बारों में पढ़ा उसी समय एक मित्र ने मेरी गुजराती में लिखी हुई कुछ पंक्तियां मेरे पास भेज दीं। वर्षों पहले लिखी हुई पंक्तियां हैं वे। मैं उन्हें भूल भी गया था। आज उन्हें पढ़ने से अनेक मिश्र भाव मन में जाग उठते

हैं। अगर मैं आज लिखता तो इस आधुनिक भक्त के बारे में इससे अधिक गौरवान्वित भाषा में लिखता परन्तु फिर भी उन पुरानी पंक्तियों को हिन्दी में यहां दे देना पसन्द करता हूं :

"लाला हरदयाल याने प्रचण्ड झंझावात। जहां से वह निकलेगा वहां के बड़े-बड़े पेड़ों को उखाड़ देगा। किन्तु अगर हवा के बहने की दिशा में भी स्थिरता आ सके तो हरदयालजी के विचारों में भी स्थिरता आने की आप आशा करें। उनमें स्थिरता भले ही न हों किन्तु पारमार्थिकता (अर्नेस्टनेस एण्ड सिन्सियरिटी) भरपूर है। उनके विचार चाहे कुछ भी हों, हरदयाल की वृत्ति ब्राह्मण की है। वे हमें कोई निश्चित रास्ता भले ही न दिखा सकें किन्तु गम्भीर विचार में अवश्य डाल सकते हैं। वे कभी आर्यसमाजी बनते हैं तो कभी हिन्दू-संगठनवादी। घड़ी में राष्ट्रधर्मी और घड़ी में विश्वकुटुम्बी। आज तुर्कस्तान की सुध लेंगे तो कल यहूदियों को आस्मान तक चढ़ावेंगे। एक बार कहेंगे कि अंग्रेजों को इस देश से निकालने के लिए गदर का ही रास्ता लेना चाहिए तो और किसी मौके पर कहेंगे कि हिन्दुस्तान का सफेदपोश मध्यम वर्ग हमेशा के लिए नामर्द हो गया है; उसकी आशा छोड़कर अंग्रेजों की मदद से ही देश की जनता का उद्धार करना चाहिये। एक दिन भगवद्गीता में वे धर्म-सर्वस्व देखेंगे तो थोड़े ही दिनों के बाद प्रचार करेंगे कि तमाम पुरानी किताबें समुद्रों में डुबा कर उनका स्थान फलाने फ्रांसीसी या अमेरिकन लेखक के ग्रन्थों का देना चाहिये। इस तरह वे आन्धी की नाई चाहे जैसे बहते रहें फिर भी उनकी चंचलता के पीछे राष्ट्रीय वृत्ति की तमन्ना दीख पड़ती है।

"आज कल वे कहां हैं? उनके क्या विचार हैं? वे हमारी मदद करेंगे या हमारी कार्य पद्धति में विघ्न डालेंगे यह हम नहीं जानते। किन्तु उनकी देशभक्ति से और त्याग से जवान और बूढ़े सब देशभक्त देशवासियों को प्रेरणा अवश्य मिल सकती है। जब वे अमेरीका में कहीं प्रोफेसर थे तो जो तनख्वाह पाते, वहां के मजदूरों में बांट देते।

जीवन की सादगी और त्याग का भारतीय आदर्श उनके रोम-रोम में भरा हुआ है।"

करीब तीस वर्ष पहले लाला हरदयाल का लिखा हुआ 'सोशल क्वांक्वेस्ट ऑफ द हिन्दू रेस' शीर्षक एक लेख मॉडर्न रिव्यू में पढ़ा था। तब उसका चित्त पर गहरा असर हुआ था। आज उसे पढ़ने पर उसमें संकुचितता अवश्य दीख पड़ेगी। किन्तु उस में जो दृष्टि है वह अवश्य सजीव है। क्या ही अच्छा हो अगर हिन्दी का कोई प्रचारक लाला हरदयाल के सभी लेखों का हिन्दी संग्रह करे।

—मई १६३६

४

श्री केशवराव देशपांडे की संस्थायें—एक संस्मरण

बेलगाँव के हमारे नेता कर्णाटक-केसरी गंगाधरराव देशपांडे के मुख से मैंने बड़ौदे के बैरिस्टर केशवराव देशपांडे का नाम सुना था। बड़ौदे में एक बार महाराष्ट्र साहित्य परिषद् का अधिवेशन हुआ था। उस में जाकर आये हुए श्री कृष्णाजीपंत खाडिलकरके, जो लोकमान्य तिलक के दाहिने हाथ माने जाते थे, मुख से भी केशवराव देशपांडे का नाम सुना था। दोनों के मन में केशवराव के बारे में अत्यंत आदर था। दोनों कहते थे, बैरिस्टर देशपांडे गायकवाडी राज्य में नौकर हैं तो क्या हुआ? भीतर से तो वे पूरे क्रान्तिकारी हैं। वे बड़ौदा राज्य में सूबा यानी कलेक्टर और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट हैं। परन्तु अपने वेतन में से वे एक राष्ट्रीय संस्था चलाते हैं—'श्रीगंगनाथ भारतीय सर्व विद्यालय'।

यह भी मालूम हुआ कि बैरिस्टर देशपांडे और श्रीअरविन्द घोष विलायत में सहाध्यायी थे। दोनों एक दूसरे के 'जीवश्च कंठश्च'' स्नेही हैं। सारी दुनिया को मालूम था कि श्री अरविन्द उच्च कोटि के क्रान्तिकारी हैं। इसलिए केशवराव के बारे में मन में आदर-भक्ति पैदा हुई, एक क्रान्तिकारी के तौर पर भी और अध्यात्मविद्या के भक्त के तौर पर भी।

उस समय मैं लोकमान्य तिलक के द्वारा चलाये जाने वाले दैनिक पत्र 'राष्ट्रमत' में गंगाधरराव देशपांडे के हाथ के नीचे काम करता था।

लोकमान्य तिलक का जो गुप्त क्रांतिकारी कार्य चलता वह श्री खाडिलकर, गंगाधरराव और चित्रशाला प्रेस के श्री वासुदेवराव जोशी, इन तीनों द्वारा चलता था। दूसरे भी थे, परन्तु ये तीन मुख्य थे।

एक दिन बड़ौदे से वामन शास्त्री दातार आकर हम से मिले। उन्होंने कहा कि गंगनाथ विद्यालय के लिये एक आचार्य चाहिये। राष्ट्रीय वृत्ति का होना चाहिये। मैंने अपने मित्र भोर के नीलकंठ लेले की सिफारिश की। वे हाल ही में ग्रेज्युएट हुए थे। मेरे इस कदम के कारण नीलकंठ लेले के बड़े भाई मुझ पर सख्त नाराज़ हुए। कहने लगे, 'मैंने अपनी कालिज की पढ़ाई छोड़ दी और छोटे भाई को पढ़ाया, बी० ए० किया, इस आशा से कि वह कमाने लगेगा तो मैं अपनी पढ़ाई पूरी करूँगा। यों हमारा परिवार अच्छे दिन देखेगा। हमारी इस आशा पर तुमने पानी फेर दिया। तुम्हारा कैसे भला हो?" इस शाप का कोई असर नहीं हुआ। तब उस भाई का दूसरा पत्र आया कि, 'सरकार को मैं पत्र लिखूँगा कि यह संस्था राजद्रोही है। फिर देखोगे, तुम लोगों के क्या हाल होते हैं।" जवाब में मैंने कहा, "अंग्रेज सरकार की कुदृष्टि शुरू से ही इस संस्था पर है। अंग्रेज सरकार से हम डरते नहीं। फिर आप के पत्र से डरेंगे?" उस भाई ने मेरा नाम लेना छोड़ दिया और अपने छोटे भाई नीलकंठ को पत्र लिख लिखकर तंग कर डाला। नीलकंठ ने गंगनाथ विद्यालय छोड़कर भाई के पास जाना तय किया।

उसी अरसे में बम्बई सरकार ने हमारे 'राष्ट्रमत' से बड़ी भारी जमानत माँगी। राष्ट्रमत बंद करना पड़ा। और हम यकायक बेकार हो गये। आगे क्या करना इसका विचार हम दिन-रात करते थे। दरम्यान एक दिन बड़ौदे से बैरिस्टर देशपांडे गंगाधरराव से मिलने आये। आते ही उन्होंने बात शुरू की "सुनता हूँ, आप के यहाँ कालेलकर नाम के एक युवक काम करते हैं जिनकी सिफारिश से लेले नाम के ग्रेज्युएट मिले थे। वे चले गये हैं, इसलिये पूछने आया हूँ कि क्या कालेलकर हमें मिल सकते हैं?"

गंगाधरराव ने हँसकर कहा, "यही कालेलकर हैं जो मेरी बगल में बैठे हैं। आप ही उन से पूछिये।" (मैं गंगाधरराव का चहेता था इसलिये राष्ट्रमत के स्टाफ के लोगों के साथ न रहकर गंगाधरराव के कमरे में ही रहता था।)

केशवराव मेरी ओर मुड़े। मैंने कहा, "आप के बारे में पहले से मैंने सुना है। आपके हाथ के नीचे काम करने का अवसर मिलेगा तो मैं उसे अपना सौभाग्य समझूँगा।"

लेकिन बात मंजूर रखने का मेरा खास कारण था। मेरे भेजे हुए भाई कच्चे साबित हुए। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षण को धोखा दिया। इसलिये वह काम अब मुझे लेना ही चाहिये। मेरी मान्यता थी कि देश में जो क्रान्ति हम करना चाहते हैं वह राष्ट्रीय शिक्षण के द्वारा ही हो सकती है। गंगाधरराव देशपांडे के कहने से हमारे बेलगाँव के गणेश विद्यालय का भार मैंने अपने सिर लिया था। लेकिन वहाँ के शिक्षक ठहरे अति-रूढिवादी। सनातन-धर्म का उज्ज्वल रूप उनमें कभी उगा ही नहीं। वे भूतकाल को सजीवन करना चाहते थे। सनातन रूढ़िधर्म में और महाराष्ट्र के इतिहास में ही वे रचेपचे रहते थे। इसलिये मैंने उनका साथ छोड़ा था।

"तब बड़ौदा कब आयेंगे?"

"घर जाकर कुछ व्यवहार का काम निबटाकर गोवा होकर सीधा बड़ौदा पहुँचूंगा।"

इस प्रकार बड़ौदे के साथ; गुजरात के साथ और वहाँ के क्रान्ति-वादी लोगों के साथ मेरा संबंध बना।

इतनी जो प्रस्तावना की वह गंगनाथ विद्यालय का इतिहास देने के लिये नहीं। मुझे तो उस समय के सामाजिक क्रान्ति के एक प्रकरण का यहाँ बखान करना है।

: २ :

गंगनाथ भारतीय सर्व विद्यालय की स्थापना प्रथम नर्मदा के किनारे एक साधु के आशीर्वाद से उन्हीं के मठ में हुई थी। आगे चलकर वह विद्यालय बड़ौदे में लाया गया। वहाँ भी एक बड़े मंदिर में वह विद्यालय चलता था। उस विद्यालय के मुख्य संचालक वासुदेवराव थे। धार्मिक संस्थाओं की मदद से क्रान्ति का काम चलायेंगे तो समाज में वह दृढ़मूल होगा ऐसी हमारी सब की धारणा उस समय थी। वासुदेवराव भी रूढ़िवादी ही थे। प्रारंभ में मैं सिर्फ विद्यालय का आचार्य था, मतलब कि विद्यालय की पढ़ाई और वर्गों का संचालन मेरे हाथ में था। तदुपरांत एक औद्योगिक विभाग था। वह और छात्रालय ये दो विभाग वासुदेवराव के हाथ में थे। यों तो सारा विद्यालय उन्हीं के हाथ में था। आगे चलकर वे सब विभाग एक हो गये ऐसा कुछ मुझे स्मरण है।

जब छात्रालय भी मेरे हाथ में आया तब की बात है—

बड़ौदा राज में उस समय महाराष्ट्रियों का प्रभाव ज्यादा था, हालांकि श्री सयाजीराव गायकवाड़ की नीति ऐसे सब भेदभाव मिटाकर राष्ट्रीयता को मजबूत करने की ही थी। छात्रालय की देखभाल करने की जिसकी सीधी जिम्मेवारी थी वे महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। रसोइये सब रूढ़िनिष्ठ दक्षिणी ब्राह्मण थे। (वे सब महाराष्ट्री थे या कोई मद्रासी भी था यह इस वक्त याद नहीं है। लेकिन इतना याद है कि वे सब वज्रमुष्टि पहलवान थे।) सब लड़के पंगत में भोजन के लिये बैठते थे। उसमें जाति के मुताबिक पंक्ति भेद था या नहीं, याद नहीं है। परन्तु रसोइयों की बनाई हुई रसोई परोसने का काम महाराष्ट्री ब्राह्मण लड़के करें यह रिवाज था। क्योंकि गुजराती ब्राह्मण परोसेगा तो महाराष्ट्री ब्राह्मण खाने को तैयार नहीं होगा। यह हालत थी उस समय की। इस रूढ़ि की ओर मेरा ध्यान कैसे गया, इस समय याद नहीं आता। न मालूम, विद्यार्थियों में इस रिवाज को लेकर कुछ कहा सुनी हुई हो तो। वस्तुस्थिति ध्यान में आते ही मैं सोच में पड़ गया। 'यह कैसे

चलने दें ?' मुझ से कहा गया कि 'बड़ौदे में यह व्यवस्था परापूर्व से चली आयी है। इसमें आप बदल नहीं कर सकते।'

मैं अस्वस्थ हुआ। हम समानता की और राष्ट्रीय एकता की बातें करते हैं। कांग्रेस के अधिवेशन में सब साथ बैठकर खाते हैं। और इस राष्ट्रीय संस्था में ऐसा ऊँच-नीच का वातावरण! मैं सीधा गया केशवराव देशपांडे के पास। हम उन्हें 'साहेब' कहते थे। मैंने उन से सीधा सवाल किया, 'हम चातुर्वर्ण्य में मानते हैं या अनंतवर्ण्य में ?" वे कुछ भी समझ न सके। 'क्या है वह तो पहले बताओ ?' उनकी आज्ञा हुई। मैंने सारा किस्सा सुनाया। मैंने कहा, 'गुरु के घर सब विद्यार्थी समानभाव से रहें यह सनातनधर्म का सिद्धान्त है, यह तो दरकिनार। ब्राह्मण, बनिये, ब्रह्मक्षत्री, पाटीदार समानभाव से रहें इस की भी मैं बात नहीं करता, परन्तु 'महाराष्ट्री ब्राह्मण श्रेष्ठ, गुजराती ब्राह्मण कनिष्ठ, उसके हाथ का पकाया हुआ या परोसा हुआ महाराष्ट्री ब्राह्मण नहीं खायेगा', यह मिजाजखोरी हम कैसे सहन करें ? कहते हैं गुजराती स्त्रियाँ हाथीदाँत की यानी हड्डी की चूड़ियाँ पहनती हैं, वे कच्छ नहीं लगातीं। इसलिये वे लोग कमदरजे के हैं। ऐसी दलीलें हम कैसे मान सकते हैं ?'

केशवराव मेरी बात समझ गये। उन्होंने कहा, "यहाँ का रिवाज मैं जानता हूँ। लोगों को छेड़ना नहीं इस विचार से सनातनी लोगों की रूढियों को मान्य रखकर चलते हैं। उसमें कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता अब तक मालूम नहीं हुई और मेरी सूचना भी नहीं है कि उसमें कुछ सुधार किया जाय। फिर भी आप कुछ सुधार करना चाहें तो मैं बीच में नहीं आऊँगा। समाज को छेड़ने से क्या परिणाम आयेगा इसका खयाल आप ने किया ही होगा। मुझे तो ख्याल है ही। फिर भी आप यह सुधार अमल में लायें तो मैं बीच में नहीं आऊँगा। इस से ज्यादा की अपेक्षा मुझसे नहीं रखना।"

मैंने कहा "आप से आदेश पाकर उस के बल पर सुधार करने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है। आप को उस में सम्मिलित किये बिना

मैं सब कर लूँगा। सिर्फ आप का नैतिक समर्थन मुझ को है इतना विश्वास मेरे लिये काफी है। संस्था आप की है। आप के मन को ठेस पहुँचाने का काम मुझ से नहीं होगा।"

'मेरा सुधार साहेब को पसंद न हो तो मैं गंगनाथ विद्यालय में नहीं रह सकता' इस बात का उल्लेख मैंने कहीं भी नहीं किया; यह मेरी नम्रता थी।

दूसरे दिन अध्यापकों और व्यवस्थापकों के सामने मैंने अपना निश्चय जाहिर किया। उसमें देशपांडे साहेब के नाम का जरा भी उल्लेख नहीं किया। अपना अभिप्राय और निर्णय दृढ़ता से जाहिर किया।

एक ने उतनी ही दृढ़ता से सुनाया, "ऐसा करने जायेंगे तो संस्था टूट जायेगी। कोई महाराष्ट्री यहाँ नहीं रहेगा इसका आपने खयाल किया है?"

मन में तो मुझे बहुत गुस्सा आया पर विनोद धारण कर के हँसते-हँसते मैंने उन से प्रश्न किया, "आप देखते नहीं कि एक महाराष्ट्री ही यह सुधार करना चाहता है और वह तो इस सुधार के कारण संस्था छोड़ेगा नहीं।" सब हँस दिये। फिर मैंने आगे कहा, 'अंग्रेजों के राज्य में राष्ट्रीय संस्था चलाना कितना कठिन काम है यह मैं जानता हूँ। मैंने राष्ट्रीय संस्थाओं में काम किया है। संस्था चलाने की मेरी योग्यता के कारण समाज में मैंने जो प्रतिष्ठा पायी है वह यदि इस कदम से टूट जायेगी और मेरे हाथों एक लोकप्रिय क्रान्तिकारी संस्था बंद हो जायेगी तो कल मैं सिर ऊँचा कर के बड़ौदा में घूमूँगा। मुझे कोई डर नहीं है।'

सब शांत हो गये। 'गुजराती ब्राह्मण विद्यार्थी भी सब को परोसने का काम शुरू करेगा' मैंने जाहिर किया। रसोइयाओं ने त्यागपत्र दिया। तब जो तुरन्त गुजराती ब्राह्मण रसोइये मिले वे राँधने की कला में कच्चे साबित हुए। यह तो ठीक। लेकिन बहुतेरे महाराष्ट्री विद्यार्थी संस्था छोड़कर चले गये। एक अत्यंत धर्मचुस्त और सात्त्विक

लड़का (जो मेरा चहेता था) मेरे पास आया। बोला, "मेरे घर के लोग अत्यंत रूढ़िचुस्त हैं। वे यह सुधार मंजूर नहीं रखेंगे। मैं क्या करूँ?" मैंने कहा, "घर पत्र लिखो। जबाब न आये तब तक मेरे घर पका कर खाओ।" एक अध्यापक से भी मैंने यही कहा कि, "मैं आप को खोना नहीं चाहता। उस विद्यार्थी के साथ आप खा सकते हैं। परन्तु छात्रालय में एक ही नियम चलेगा। उस में अपवाद नहीं हो सकता।"

देखते-देखते कितने ही विद्यार्थी और कुछ अध्यापक चले गये। संस्था में मानो श्मशान का वातावरण फैल गया। मैं तो दृढ़ ही रहा। बड़ौदा के महाराष्ट्री समाज में इसकी खूब चर्चा चली। यों आठेक दिन बीते होंगे।

और फिर थोड़े-थोड़े विद्यार्थी वापस आने लगे। सब तो नहीं पर बहुतेरे वापस आ गये। संस्था पहले की तरह चलने लगी। मेरे खिलाफ शिकायत करने के लिये बैरिस्टर देशपांडे साहेब के पास कोई गया था या नहीं, मैं नहीं जानता। बहुत कर के लोग समझ गये होंगे कि काका के सामने हमारी कुछ चलेगी नहीं। और एक प्रकरण शांत हुआ, पूरा हुआ। और रूढ़िनिष्ठ सनातनी समाज ने बुद्धिमानी कबूल रखकर एक पन्ना उलटाया।

१५ सितम्बर १९६८

५

गंगाधरराव के कुछ संस्मरण

कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके स्वराज्य-सेवा के हेतु राष्ट्र-कार्य करने का संकल्प मैंने किया उसी समय हमारे बेलगांव कर्णाटक के लोकनेता श्री गंगाधरराव देशपांडे के साथ मेरा परिचय बढ़ा। उन दिनों मेरी देशभक्ति जितनी गहरी थी, सेवा करने की उमंग जितनी उछलती थी, उतनी ही अपनी योग्यता और कार्य शक्ति के बारे में मेरा अविश्वास असाधारण था। मुझे लगता था—और सही लगता था—कि लोगों से पेश आने की खूबी ही मुझ में नहीं है। मेरा नसीब ही ऐसा है कि मेरे बारे में गलतफहमी जल्दी होती है। उसे दूर करने की जितनी कोशिश करूँ उतनी ही उसे मजबूत करने की सफलता मुझे मिलती है। मैं मानता था कि आस-पास के लोग मेरा तिरस्कार ही करते हैं। जो सज्जन हैं वे उसे छुपाते हैं और मुझसे दूर रहते हैं। कालिदास ने जिसे 'आत्मनि अप्रत्ययं चेतः' कहा है ऐसा ही मन मुझे मिला है। और साथ-साथ तमीज और शिष्टाचार जैसी वस्तु मैं जानता ही नहीं। लाने की कोशिश करूँ तो उलटा ही हो जाता है।

ऐसे स्वभाव के साथ मैंने राष्ट्र सेवा, स्वराज सेवा, सर्वांगीण समाज-सेवा करने का निश्चय किया। सनातनी रूढ़िपरायण संस्कारों में मेरा बचपन व्यतीत हुआ था। उनके खिलाफ लड़ने का भी जोश मन में पैदा हुआ था। फलतः समाज के खिलाफ लड़ पड़ने की भी तैयारी थी। इस पर आया वेदान्त का जोश और उत्साह, जो स्वामी विवेकानन्द के ग्रन्थों में ठूस-ठूस कर भरा हुआ था। राजनीति में क्रांतिवादी,

सामाजिक क्षेत्र में रूढ़िविरोधी और धर्म के क्षेत्र में वेदान्त का प्रचारक ऐसा विचित्र व्यक्तित्व लेकर मैंने अपने जीवन का प्रारम्भ किया। मेरे पिता समाज में ज्यादा घुलते मिलते नहीं थे, इसलिए बड़े लोगों से जान पहचान कम। ऐसे मुझको कौन अपना सकता था ?

उन दिनों लोकमान्य तिलक की ओर से बम्बई में एक मराठी दैनिक 'राष्ट्रमत' शुरू हुआ। हम बड़े उत्साह से उसे पढ़ते थे। एक दिन मैंने एक लेख लिखकर सम्पादक के नाम भेजा। विश्वास था कि वे मेरा लेख लेंगे। दूसरे दिन बड़ी उत्कंठा से 'राष्ट्रमत' का अंक खरीद कर देखा। उसमें मेरा लेख नहीं था। दुःख तो हुआ, लेकिन मेरे मन में अपने बारे में जो अभिप्राय: था वह दृढ़ हुआ कि इस दुनिया के लिये मैं हूँ ही नहीं। मेरा व्यक्तित्व इतना टेढ़ा-मेढ़ा है कि मेरा कहीं भी चलेगा नहीं।

'राष्ट्रमत' का अंक मैंने बाजूपर रख दिया और L. Lb. की किताबें पढ़ने लगा।

दो दिन के बाद कितना आश्चर्य ! मेरा ही लेख मेरे ही नाम के बिना थोड़े से परिवर्तन के साथ राष्ट्रमत में अग्रलेख के रूप में दिया गया था और गंगाधरराव ने मुझे मिलने बुलाया था। उन दिनों राष्ट्रमत के वे सर्वेसर्वा थे। उन्होंने बड़े प्रेम से मेरे साथ बातचीत की। जीवन का उद्देश्य क्या है, क्या करना चाहता हूँ आदि बातें पूछीं और अपने साथ रहने के लिए ही बुलाया। और L. Lb. की बात छोड़ देने की सलाह दी। मैं मान गया। राष्ट्रमत में उन्हीं के कमरे में रहने लगा। मुझे आनन्द और संतोष इस बात का हुआ कि मेरी सारी विचित्रता वे समझ सकते थे। उन्हें वह अखरती नहीं थी। इतना ही नहीं, किन्तु कोई अपना अनुभवी साथी हो इसी तरह मेरे साथ बातचीत करते थे, मेरी सलाह पूछते थे और गंभीरतापूर्वक चर्चा भी करते थे।

कॉलेज के दिनों में कई क्रांतिकारी लोगों के साथ मेरा परिचय था ही। एक क्रांतिवादी नवयुवक के तौर पर ही गंगाधरराव मुझे पहचानते थे। उनके कमरे में जब दूसरे क्रांतिकारी लोग आकर तरह-तरह की

योजनाओं की चर्चा करते थे तब गुप्त बातें सुनने का अपना अधिकार नहीं इस ख्याल से मैं कमरे के बाहर जाता था। लेकिन गंगाधरराव ने मुझे रोका और कहा, 'तुम पर मेरा पूरा विश्वास नहीं होता तो मैं तुम्हें अपने कमरे में रहने के लिए स्थान नहीं देता। हमारी कोई भी बात तुम से छिपी हुई नहीं है।' मैंने कहा, 'आपके ऐसे विश्वास से मेरा जीवन धन्य हो गया, लेकिन मेरा सिद्धान्त है कि गुप्त बातों में आवश्यकता से अधिक चीजें सुनना या जान लेना अनावश्यक है, खतरनाक है। रहस्य-चीजें जान लेने का कुतूहल हर एक में होता है। वही क्रांतिकारी प्रवृत्तियों को खतरे में डालता है। और नाहक का विनाश मोल लेता है।' गंगाधरराव ने कहा, तुम्हारी बात सही है किन्तु 'ऐसा समझने वाले नवयुवक हमारे दल में भी कम हैं।' मैंने कहा, हमारे नवयुवकों से मेरा जो परिचय है उस पर से कह सकता हूं कि बेजा कुतूहल के साथ कई लोगों में यह अदम्य इच्छा भी होती है कि 'लोगों को बतावें कि मैं एक बड़ा आदमी हूँ, कई महत्त्व के रहस्य मैं जानता हूँ। चित्त की यह खुजली रोकना कई लोगों को मुश्किल होता है।'

एक दिन क्रांतिकारी नवयुवकों के दल के साथ बातचीत करते गंगाधरराव ने कहा कि 'हमारे नवयुवकों को अगर कुछ काम सौंपा तो उस काम की उन के पास से सही-सही रिपोर्ट हमें नहीं मिलती। अपनी गलतियाँ छिपाते हैं। वैसा करते घटनाओं के विवरण में परिवर्तन करते हैं। अपना रंग लगा देते हैं। इसलिए जो रिपोर्ट हमारे पास आती है उनमें सत्य कितना है, ढूँढना हमारे लिए मुश्किल होता है। अपवाद सिर्फ कालेलकर का है। उनका सारा का सारा बयान सही-सही होता है। उन पर हम विश्वास रख सकते हैं।' उद्विग्न होकर गंगाधरराव ने आगे कहा, 'पुलिसवाले अपने अफसरों को जो रिपोर्ट देते हैं वह ज्यादा अच्छी होती है। सही-सही बातें लिख देने में उनकी प्रामाणिकता कुछ अच्छी होती है।'

'अंग्रेजों के खिलाफ हम लड़ते हैं। अंग्रेज देश के दुश्मन हैं। उन्हें सौ दफे झूठ कहेंगे। वैसा करते न हमें संकोच होगा, न लज्जा। लेकिन

अपनी संस्था के अन्दर अपने लोगों के साथ, खास करके अपने नेताओं के साथ तो पूरी-पूरी सत्यता होनी चाहिये। हम लोग देश के लिए प्राण अर्पण करने के लिए तैयार हैं, लेकिन अपनी छोटी-छोटी कमजोरियां छोड़ नहीं सकते।'

गंगाधरराव ने अपने कथन में मुझे जो प्रमाण-पत्र दिया उससे तो मानो उन्होंने मुझे जीत ही लिया। (गांधीजी ने भी इसी तरह मेरे स्वभाव की थोड़ी कदर करके मुझे अपनाया था। उस घटना का आज यहाँ स्मरण होता है।)

एक दिन हमारे सम्पादक मण्डल में गरमागरम चर्चा हुई। हम सब लोग उत्साह में आकर जोरों से अपनी-अपनी कलम चलाते थे। दैनिक पत्र के लिए खूब लिखना पड़ता है और वह भी समय पर। हम सब लोग अपने-अपने काम में गर्क थे, इतने में मुझे बाथरूम की ओर जाना पड़ा। वहाँ क्या देखता हूँ? गंगाधरराव स्वयं नल के नीचे बालटियाँ रखकर उस पानी से पेशाबघर और टट्टीघर साफ कर रहे हैं। हाथ में एक बड़ा झाड़ू लेकर टट्टीघर का फर्श साफ कर रहे हैं। कर्णाटक के नेता, स्वराज की गर्जना करने वाले व्याख्यान-केसरी और हम क्रांतिकारियों के पूज्य नेता उन्हीं कमरों को साफ कर रहे हैं जो हम अपनी बेदरकारी के कारण गन्दी हालत में छोड़ देते थे।

चकित होकर मैंने चिल्ला कर पूछा। 'गंगाधरराव, आप यह क्या कर रहे हैं? क्या हम सब मर गये, जो आप को यह काम करना पड़ा?' उन्हों ने सहजभाव से जवाब दिया, 'आप सब अपना काम तो कर ही रहे हैं। आप खाली थोड़े ही बैठे हैं? देखा कि यह कमरे गन्दे पड़े हैं तो साफ कर लिये। उसमें हुआ क्या?"

उन दिनों राष्ट्रमत का काम ज्यादातर हम स्वयं सेवक ही करते थे। राष्ट्रमत के ऊपर कर्जा था वह दूर करना था। हम सब स्वयंसेवक राष्ट्रमत के मकान में ही रहते थे। वहीं सब साथ खाते थे। रात को टेबलपर के अखबार हटाकर उन्हीं पर वहीं सोते थे। यह सब देखकर लोग हमारी संस्था को 'राष्ट्रमठ' कहते थे। गंगाधरराव सब के साथ समानभाव से रहते थे, खाते-पीते

थे, और हमें प्रेरणा देते थे। मैंने ऊपर कहा ही है, मैं उन्हें करीब-करीब पिता के जैसा ही मानता था। गंगाधरराव के उपदेश का और जीवन का मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन के कारण श्री खाडिलकर, केलकर, काका पाटील, श्री दा० वि० गोखले, चित्र-शाला के वासुदेवराव जोशी आदि अनेक लोगों से मेरा परिचय हुआ। लोकमान्य तिलक के साथ स्वतंत्ररूप से थोड़ा परिचय हुआ था, लेकिन वह बढ़ा नहीं। मैं चाहता तो बढ़ा सकता था। बेलगाम के श्री गोविन्दराव यालगी तो हाय-स्कूल के मेरे सहपाठी थे। लेकिन उनका घनिष्ठ परिचय गंगाधरराव के कारण ही हुआ।

मैं मानता हूँ कि अपने प्रति अविश्वास होना मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्दैव है। उससे मुझे बचाने का काम गंगाधरराव ने ऐसे मौके पर किया जब मैं अपने सेवा-जीवन का प्रारम्भ ही कर रहा था।

(इसी तरह मेरे जीवन में आत्मविश्वास का फिर से प्रस्थापन करने वाले थे मेरे मित्र स्वामी आनन्द। उनके प्रति भी मैं उतना ही कृतज्ञ हूँ। उनका परिचय भी राष्ट्रमठ में राष्ट्रमत के कारण ही हुग्रा।)

श्री गंगाधरराव देशपांडे ने राष्ट्रमत बन्द होने के बाद मुझे श्री अरविन्द घोष के स्नेही श्रीकेशवराव देशपांडे के पास जाने की इजाजत दी और मैंने बेलगाम का अपना राष्ट्रीय शिक्षा का काम बड़ौदे में बढ़ाया। वहाँ से मैं हिमालय और शांतिनिकेतन होकर गांधीजी के पास गया। तो भी गंगाधरराव के साथ मेरा सम्बन्ध कायम रहा।

जब मेरी कोई प्रवृत्ति पूरी होती थी तब मेरा रिवाज था कि मैं गंगाधरराव के पास जाऊँ। मैं उन से कहता था कि, मैं ग्राप के पास कुछ काम न हो तो मैं जो नया काम शुरू करूँ उस में मुझे मदद दीजिये। लेकिन इस तरह मैं आपको बाँधना नहीं चाहता। मैं जो नई प्रवृत्ति शुरू करूँ या स्वीकारूँ उस में आपके हार्दिक आशीर्वाद

मुझे दीजिये। वही मेरा मंगलाचरण होगा। उन्होंने हर समय, हर कदमपर मुझे अपने आशीर्वाद दिये यह मेरे जीवन की धन्यता है।

"जब तुम्हारे जैसे कट्टर क्रांतिवादी गांधीजी का अहिंसक मार्ग पसन्द करते हैं तब तुम्हारे ही मुँह से उस की खूबियाँ मैं समझना चाहता हूँ," ऐसा कहकर गंगाधरराव ने गांधीमार्ग के बारे में चर्चा शुरू की। क्रांतिकारी क्रांतिकारी की परिभाषा में ही बोल सकता है, समझा सकता है। हमारी ऐसी ही स्थिति थी। गंगाधरराव के वृद्ध पिता को (क्रांति में वे गंगाधरराव से कम वृद्ध मालूम पड़ते थे। विनोदशक्ति में और प्रसन्नता में दोनों एक से थे।) वेदान्तविद्या का शौक था। इसलिये मैं उन से मिलने जाता और हमारी काफी चर्चा होती थी। कभी-कभी वे कहते थे कि 'मैं तो मामूली मुख्त्यार वकील था। अगर मुझे कभी जेल जाना पड़ता तो किसलिये? झूठी गवाही दी या जाली दस्तावेज बना दिया ऐसे कारण से। लेकिन मेरे लड़के को जेल हुई है ब्रिटिश साम्राज्य के बादशाह के विरुद्ध बलवा-विद्रोह करने की कोशिश में। कितना बड़ा फर्क! और मेरे लिये कितने अभिमान की बात! मेरा लड़का जेल जाता है इसका मुझे दर्द नहीं है। हमारे परिवार का मुख उस ने उज्ज्वल किया। हमारी शान बढी।'

पुराने जमाने की जमीदारी का एक अच्छा नमूना था, गंगाधर-राव का परिवार। जब वे पढ़ने के लिये कॉलेज में गये तब पिता ने उनके साथ एक रसोईया और नौकर दिया था। ऐसी शान के बिना लड़के को बेलगाम से पूना भेजना पिता को पसन्द नहीं था। लड़के को यही बात हास्यास्पद लगी और उस ने थोड़े ही दिनों में दोनों को वापस भेज दिया। दो जमानों में कितना अंतर! जब गंगाधरराव का कॉलेज जीवन पूरा हुआ तब उन्होंने पिता को पत्र लिखा कि, 'अब मैं पुराने मकान में कैसे रहूँ? अब मेरे लिये एक नये ढंग का नया बंगला बाँध रखिये। आते ही उसमें रह सकूँ।' नये जमाने की नई शान!

कहते हैं कि गंगाधरराव ने पहले तो नामदार गोखले की सर्वन्ट्स ऑफ इन्डिया सोसायटी-भारत सेवक समाज-में दाखिल होना चाहा था। लेकिन गोखले ने उन के विचार और उनका उत्साह देखकर उन्हें सिफारिश की कि आप लोकमान्य तिलक के पास जाइये। गंगाधरराव तिलक के पास गये और एक तरह से उनके दाहिने हाथ बन गये। लोकमान्य की प्रवृत्ति पूना से चलती थी। गंगाधरराव उनके कर्णाटक के प्रतिनिधि। देखते-देखते अपना प्रान्त उन्होंने जाग्रत किया। मराठी और कन्नड़ दोनों भाषाओं में गंगाधरराव का वक्तृत्व अप्रतिम था। महाराष्ट्र में भी उनकी कोटिके वाग्मी बहुत कम थे।

जब लोकमान्य विलायत गये तब उन्होंने अपनी गद्दीपर गंगाधरराव देशपांडे की नियुक्ति की और कहा कि आप पूना में आकर मेरे ही घर पर रहिये। मेरा कमरा ही आप का कमरा होगा। मराठी 'केसरी' और अंग्रेजी 'मराठा' दोनों अखबार चलाने वाले संपादक आप की ही निगरानी में काम करेंगे। गंगाधरराव ने ऐसे विश्वास और ऐसी नियुक्ति के लिये लोकमान्य को धन्यवाद दिया और कहा, आप के दोनों संपादक सुयोग्य पुरुष हैं। मैं बेलगाम ही रहूँगा। पूना आता जाता रहूँगा। आप पीछे की चिंता न करें। गंगाधरराव जानते थे कि अपने नेता की गद्दीपर जाकर बैठने से उनकी कार्यशक्ति नहीं बढ़ेगी। असली काम तो विचार-प्रचार का है।

मेरा प्रधान कार्य राष्ट्रीय शिक्षा का ही था। मैं क्रांतिवादी था सही, किन्तु मैं मानता था कि राष्ट्रव्यापी क्रांति करनी हो तो अब देशी राजाओं को तैयार करने से नहीं होगी। वह पद्धति सन् १८५७ में खतम हुई। अब तो प्रजाजाग्रति का ही युग है। हमारे जमाने के स्वातन्त्र्यवीर श्री सावरकर ने गणेशजी की आरती में प्रार्थना की थी—

'देवा घे हातीं तलवार, हो संगरा तयार,
देवा घे हातीं तलवार..................

थोड़ा जय तुज येता मिळतिल साह्याला साचार रे
ठायि ठायिचे निर्जर राजे तसेच तत्सरदार रे।
देवा घे हातीं तलवार।

(हे गणेशजी, भगवान्, हाथ में तलवार लेकर संगर यानी युद्ध के लिये तैयार होइये। दुश्मन के खिलाफ लड़ते जब तुम्हें थोड़ा विजय प्राप्त होगा तब जगह-जगह के देवता राजा जो निर्वीर्य नहीं हुए हैं, तुम्हारी मदद में आयेंगे और उन के सरदार भी आयेंगे। उन की मदद से देश आजाद होगा ई०)

लोकमान्य के जमाने के चन्द क्रांतिकारी हैदराबाद के निजाम के यहाँ गये। देखने के लिये कि वहाँ कुछ आजादी के प्रयत्न को बल मिलता है या नहीं? श्री कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर नेपाल गये यह विश्वास लेकर कि वहाँ के स्वतंत्र राज से कुछ सहानुभूति और मदद मिलेगी। अन्य क्रांतिकारी लोगों ने आशा रखी थी कि शायद कोल्हापुर के छत्रपति से प्रश्रय मिलेगा। उन्हें कैसा अनुभव हुआ यह तो हमेशा के लिये रहस्य ही रहेगा। पता नहीं, आजादी के इतिहास में भी उस प्रकरण को स्थान रहेगा या नहीं। महाराष्ट्रियों के दूसरे एक दल ने बड़ौदे का आश्रय लिया। वहाँ की प्रवृत्ति के बारे में अंग्रेज सजग थे। यूरप के महायुद्ध के बाद जब अंग्रेजों का साम्राज्य १८५७ से भी मजबूत हुआ तब उन्होंने स्वराज का आन्दोलन दबाने के लिये रौलेट कमिशन नियुक्त किया। उस कमिशन की रिपोर्ट में आजादी की प्रवृत्ति के इस पहलू का अच्छा जिक्र है। श्री अरविन्द घोष, श्री केशवराव देशपांडे, श्री खासेराव और माधवराव जाधव ये सारे भारत की आजादी के अनन्य उपासक थे। हरएक का दृष्टिकोण अलग-अलग, लेकिन सबका हृदय एक था। श्री अरविन्द घोष, उनके भाई श्री बारीन्द्र घोष और केशवराव देशपाण्डे इनकी कल्पना उनकी भवानी-मन्दिर की योजना में व्यक्त हुई है। उस योजना की बुनियाद में भारत की धर्मनिष्ठा है। और उनकी कार्य पद्धति वही है जिसे आगे जाकर गांधीजी ने 'रचनात्मक कार्यक्रम' का नाम दिया।

सन् १६१५ से मेरे विचारों में परिवर्तन होने लगा। स्वामी विवेकानन्द के विचार, भगिनी निवेदिता का अग्रेसिव हिन्दुइजम्, आनन्द-कुमार स्वामी का कलात्मक ध्येयवाद और ग्रामीण संस्कृति का पुनरुद्धार करने का आग्रह, लाला हरदयाल की बहुरूपी बहुरंगी क्रांति मीमांसा और रवीन्द्रनाथ का राष्ट्र-पूजा धर्म का विरोध आदि बातें क्रमशः जँचने लगी। (यह सब मैंने काल-क्रम से नहीं लिखा है।) लेकिन जैसे-जैसे मेरे विचारों में परिवर्तन होने लगे वैसे-वैसे श्री गंगाधरराव से मैं चर्चा करता रहा और मैंने देखा कि उन का वाचन काफी विशाल था। वे नये-नये विचार ग्रहण करने में युवकों से कम तैयार नहीं थे।

शुरु की ही बात कह दूँ। बम्बई प्रांत की राजकीय परिषद् बुलाने की बात थी। लोकमान्य मंडाले से लौटे थे। राजकीय परिषद् बेलगाम में होने वाली थी। गंगाधरराव और मेरे बीच तय हुआ कि इस परिषद् में हम महात्मा गाँधी को बुलावें। उन दिनों वे महात्मा नहीं बने थे, कर्मवीर गांधी थे।

मैंने गांधीजी से पूछा कि आप नरम दल के साथ ही क्यों एकरूप हो जाते हैं? आप की राष्ट्रीयता कम उज्वल नहीं है। राष्ट्रीय पक्ष के साथ भी आपको अपना सम्बन्ध रखना चाहिये। आप हमारे बेलगाम आयेंगे? हम तिलक पक्ष के लोग तय करने वाले हैं कि हम कांग्रेस में फिर से शरीक हों या नहीं। गांधीजी ने कहा कि बुलायेंगे तो जरूर आऊँगा। गंगाधरराव ने आमंत्रण भेजा। मैं गांधीजी को ले गया। परिषद् में गांधीजी ने कहा, 'आप दलीलबाज वकील बनकर काँग्रेस में प्रवेश न कीजिये। बहादुर सैनिक बनकर आइये।'

गंगाधरराव ने बड़ी खूबी से ऐसी व्यवस्था की कि गांधी और तिलक दोनों एकान्त में मिलें और एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें। स्वयं गंगाधरराव भी उस वक्त उपस्थित नहीं रहे। काफी देर तक दोनों की बातचीत हुई। लौटते तिलक ने गंगाधरराव से कहा, 'यह आदमी हमारा नहीं है। उसका रास्ता अलग है। लेकिन सच्चा और पूरा

देश-भक्त है। इसके हाथों हिन्दुस्तान का अकल्याण कभी भी नहीं होगा। इसके काम में हम से हो सके उतनी सहायता हम दें। लेकिन इसका विरोध हम कभी भी न करें।'

दूरदर्शी लोकमान्य का यह अभिप्राय सुनकर गंगाधरराव प्रभावित हुए। उन्हीं के मुंह से मैंने यह अभिप्राय सुना। मैंने इसे कई बार प्रकाशित किया है और सचमुच तिलकजी ने और गांधीजी ने कभी भी एक दूसरे का विरोध नहीं किया। जहां तक हो सका एक दूसरे का समर्थन ही किया और गंगाधरराव धीरे-धीरे गांधीजी के बन गये।

—१५ अगस्त १६६०

६

त्यागी देशबन्धु

कालीदास का एक वचन है कि, "देवों को अपना अमृत पिलाकर क्षीण बना हुआ कृष्णपक्ष का चन्द्रमा शुक्लपक्ष के चन्द्र की अपेक्षा अधिक सुन्दर दिखाई देता है।" देशबन्धु चित्तरंजनदास इस सुन्दरता तक पहुँचे थे। विद्यार्थी जीवन पूरा कर के जब उन्होंने अपना व्यवसाय शुरू किया, तब उन पर उनके पिताजी के समय का बहुत ज़्यादा क़र्ज़ा था। अथक परिश्रम करके उन्होंने वह सारा क़र्ज़ चुका दिया। इस क़र्ज़ के कारण उन्हें बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ी थीं। सार्वजनिक कामों में वे शरीक न हो सकते थे। ऋणमुक्त होने के बाद शुक्लपक्ष के चन्द्र की तरह उनकी समृद्धि बढ़ी। हमेशा दान करते रहने पर भी उनकी आमदनी तो बढ़ती ही गयी। जिस दिन उन्होंने अपना आलीशान मकान बनवाकर पूरा किया, उस दिन उन्हें कितना आनन्द हुआ होगा?

परन्तु देशबन्धु की देशभक्ति ऐसी नहीं थी, जो केवल दान करके ही तृप्त हो जाय। उन पर त्याग-धर्म का रंग चढ़ चुका था। उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी, स्वयं ग़रीब बने, और ग़रीबों की सेवा करने की दीक्षा ली। अदालत ने उनका घर कुर्क़ करने का फैसला किया। देशबन्धु पैसा कमाने की बात सोचते, तो एक क्षण के अन्दर वे अपनी सारी मिल्कियत बचा सकते थे। लेकिन उन पर त्याग-धर्म की धुन सवार थी। घर बनाते समय उन्हें जो आनन्द हुआ था, उससे भी अधिक आनन्द उस घर को हाथ से जाने देते समय उन्हें हुआ होगा।

यदि ऐसे पुण्य पुरुष के त्याग से भारतीय समाज की आत्म-शुद्धि न हुई, तो क्या उससे कोई आशा रखी जा सकती है? प्राचीन काल

से शिबि और हरिश्चन्द्र जैसे त्यागशूरों ने जो परम्परा चलायी, वह आज भी हिन्दुस्तान में मौजूद है। लेकिन उसके साथ ही यदि हमने दान पर परिपुष्ट होने की, और निरे स्वार्थी या पामर मनुष्य को ही शोभा देनेवाले मोह के लिये मलिन जीवन बिताने की परम्परा भी जारी रक्खी, तो हम पर ईश्वर की दया न रह जायगी, और हम उसके महान् कोप का भी जाग्रत करेंगे।

देशबन्धु का देहान्त होते ही महात्माजी ने उनके स्मारक के लिये लाखों रुपये इकट्ठा करके देशबन्धु का वह भव्य प्रसाद छुड़ा लिया, और उसमें उन्हीं के नाम से स्त्रियों के लिये एक बड़ा अस्पताल खोल दिया।

स्वराज्य का आन्दोलन चलाने के तरीके के बारे में गांधीजी के साथ मतभेद हो जाने पर देशबन्धु ने पंडित मोतीलाल नेहरू की मदद से स्वराज्य पक्ष के नाम से अपना एक अलग दल कायम किया था। लेकिन दोनों के अन्तःकरण बहुत विशाल थे। इसलिये मतभेद दूर होते ही उन्होंने बड़े प्रेम के साथ गांधीजी से मेल कर लिया। इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी ने तो शुरू से ही उनके साथ बड़े प्रेम और आदर का बरताव रखा था।

अखीर-अखीर में देशबन्धु और गांधीजी के बीच कुछ भी मतभेद नहीं रहा था। उन्होंने गांधीजी के सारे कार्यक्रम को अपने कार्यक्रम तौरपर स्वीकार कर लिया था।

२५-७-१९२३

७

दीनबन्धु ऍन्ड्रयूज

"मुझे हिन्दुस्तान का नेता या गुरु नहीं बनना है। मैं अँग्रेज हूँ, नम्र सेवक बनकर ही मैं हिन्दुस्तान की सच्ची सेवा कर सकता हूँ। मैं ऐसे अँग्रेजों को जानता हूँ जो हिन्दुस्तान में आकर गुरु, नेता या मालिक बनकर हिन्दुस्तान के लोगों को उपदेश देने लगते हैं। मुझे वैसा काम नहीं करना है, हिन्दुस्तान के लोगों का उद्धार हिन्दुस्तान के लोगों से ही होगा। उद्धार का रास्ता वे ही ढूढेंगे और तय करेंगे। हिन्दुस्तान के लोगों की जो कुछ सेवा बन सके, करना मेरा काम है। और वह सेवा भी हिन्दुस्तान के लोग जैसी मुझसे लेंगे, वैसी ही मुझे करनी है।"

श्री अँन्ड्रयूज साहब ने एक दफा शान्ति-निकेतन में मुझसे बातचीत करते समय इन शब्दों में अपने काम का ढंग स्पष्ट किया था। और इसी में इस सच्चे भारत मित्र की महत्ता स्पष्ट होती है। मैं नहीं मानता कि हिन्दुस्तान ने श्री अँन्ड्रयूज से बढ़कर कोई अपना सच्चा अँग्रेज मित्र पाया हो।

हृदय की विशालता, दीनों के प्रति वात्सल्य, अन्याय के प्रति चिढ़ और सेवा का व्यसन, इन बातों से अँन्ड्रयूज ने दुनिया के श्रेष्ठ पुरुषों में अपना ऊँचा स्थान पा लिया था। अँन्ड्रयूज ने भारतवासियों की जो ज्ञात और अज्ञात सेवा की है—और अज्ञात सेवा का हिस्सा ज्ञात-सेवा से कहीं बढ़कर है—उससे वे पूरे पूरे भारतवासी ही बन गये थे। उन्होंने अपनी देह जिस देश की सेवा में लगा दी थी, उसी देश में उनका देहान्त हुआ, यह सर्वथा उचित ही है। अब उनकी निर्मल और सेवा

परायण आत्मा भी इसी देश में रहे, इसकी कोशिश कृतज्ञ भारत को, उनको अपने हृदय में सतत और जाग्रत स्थान देकर करनी है।

गुरुदेव (रवीन्द्रनाथ) और महात्माजी के परम मित्र, और इंग्लैंण्ड व हिन्दुस्तान के बीच वे एक मजबूत प्रेम की शृंखला-से थे। हम अपनी ओर से कभी भी ऐसा कुछ काम न करें कि जिसके कारण श्री अँन्ड्रयूज की आत्मा को पीड़ा पहुँचे।

अप्रैल १९४०

२

दिनबन्धु से प्रथम परिचय

जब दिनबन्धु एंड्र्यूज के प्रथम परिचय का स्मरण करता हूं तो मन में लज्जा छा जाती है।

हम शान्ति-निकेतन में थे। श्री गुरुदेव (रवीन्द्रनाथ) के साहित्य से और स्वभाव से आकृष्ट होकर दिनबन्धु, शान्ति-निकेतन को ही अपना पार्थिव एवं आध्यात्मिक घर बनाने की तैयारी कर रहे थे; अथवा कर चुके थे। १९१४ के दिन थे वे।

हमने देखा कि रवि ठाकुर श्री एंड्रयूज की बहुत ही इज्जत करते थे और एंड्र्यूज तो गुरुदेव के पागल भक्त के जैसे पेश आते थे। इन दोनों के ये प्रेम-प्रसंग देखकर हृदय हर्षोत्फुल्ल हो जाता था। श्री एंड्र्यूज के साथ उनके मित्र पियरसन भी रहते थे। दोनों के स्नेह की घनिष्ठता भी हमारे आदर का विषय था। श्री पियरसन तो श्री एंड्रयूज से भी अधिक पारदर्शक थे, और विद्यार्थियों के मानो कंठमणि ही थे। एंड्र्यूज पियरसन से अधिक प्रभावशाली थे, किन्तु पियरसन की नाई विद्यार्थियों के साथ घुल-मिल नहीं जाते थे।

शान्ति-निकेतन की व्यवस्था-चर्चा में श्री एंड्र्यूज और पियरसन पूरे दिल से शरीक होते थे। श्री एंड्र्यूज की यह आदत थी कि वे चर्चा में बार-बार गुरुदेव के वचनों का हवाला दिया करते। हम लोगों को यह बुरा लगता। क्या हम लोग गुरुदेव को कम पहचानते हैं? और अगर गुरुदेव के वचन से ही फैसला करना हो, तो फिर हमलोगों की

प्रबंध-समिति की जरूरत ही क्या रही ? हम लोगों की निजी बातचीत में श्री एंड्रयूज की अनेक विचित्रतताओं की भी चर्चा होती थी । हमलोगों ने निश्चय किया कि ये एक बड़े प्रच्छन्न साम्राज्यवादी हैं । "हिन्दुस्तान के हित की बातें तो बहुत करते हैं; लेकिन दिल से तो केवल इंगलैंड का ही हित चाहते हैं । हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ लोगों के पास ऐसे धूर्त लोगों को रख कर अंग्रेज सरकार अपना राज्य मजबूत करना चाहती है ।" अंग्रेज सरकार और अंग्रेज व्यक्ति को शक की निगाह से देखना हमारी राष्ट्रीयता का सर्व प्रथम सिद्धान्त था ।

श्री एंड्र्यूज की मूर्ति सामने आते ही हमारे दिल की भलमनसाहत जाग्रत हो जाती थी; किन्तु उनके पीछे हम उन पर शंका ही करते थे । जो शिक्षक श्री एंड्र्यूज के साथ बहुत मीठी-मीठी बातें करते थे और पीछे उन के बारे में सब किस्म की शंकाएं प्रकट करते थे, उनकी वृत्ति देखकर मैं हैरान हो जाता था । किन्तु मन में उनके प्रति प्रशंसा ही रहती थी, क्योंकि हम मानते थे कि मायावी के साथ मायावी बनना ही उत्तम नीति है । श्री गुरुदेव से ये सब बातें कहने की किसी की हिम्मत नहीं थी । गुरुदेव चाहे जितने मिलनसार हों, तो भी अंत में जाकर 'ॲरिस्टोक्रॅट' (उच्चवर्गीय) ही तो ठहरे ! हम उनसे कुछ कहने गये और कहीं उन्होंने डांट दिया तो ?

१९१८ के जनवरी या फरवरी के दिन होंगे । कर्मवीर मोहनदास करमचन्द गांधी दक्षिण अफ्रिका से स्वदेश लौटे हुए थे । वे शान्ति-निकेतन आने वाले थे । गांधीजी की फिनिक्स पार्टी कब की शान्ति-निकेतन में बस चुकी थी । चार्ली एंड्र्यूज अपने प्यारे 'मोहन' के भाई बन चुके थे और इसलिए फिनिक्स पार्टी के वे दादा थे ।

जब गांधीजी शान्ति-निकेतन आये तब शान्ति-निकेतन का उत्साह तो अक्षय तृतीया के सागर के जैसा उमड़ रहा था । श्री क्षितिमोहन सेन ने उस दिन उपवास रक्खा था । उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि भारत माता के इस महान पुत्र के स्वागतोत्सव पूर्णतया सम्पन्न होने के बाद

ही मैं खाऊँगा। गांधीजी शाम को या रात को आये और दूसरे दिन की प्रभात होने के पहले ही वे शान्ति-निकेतन के घर के हो गये। उन से बातें करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं होता था। दुनिया-भर के अनेक सवालों की चर्चा करने के बाद श्री एंड्रयूज की चर्चा भी हमने करली। प्रतिनिधि मैं ही था। मैंने गांधीजी से कहा कि आप श्री एंड्रयूज को अपना भाई समझते हैं। परन्तु उनके बारे में हमारी राय कुछ अलग है। हमें यह अनुभव हो चुका है कि श्री एंड्रयूज इंगलैंड का भला चाहते हैं। गांधीजी ने तुरन्त पूछा कि उसमें क्या बुराई है? वे अंग्रेज तो हैं ही। फिर, भला वे इंगलैंड का हित क्यों न चाहें?

मैं कुछ शर्मिन्दा सा हो गया। फिर मैंने कहा, 'वे जैसे अपने को भारत हितैषी बताते हैं, वैसे वे नहीं हैं। शायद जाली आदमी है।'

गांधीजी ने कहा, 'मेरा अनुभव ऐसा नहीं है। एंड्रयूज एक नेक आदमी हैं और नेकीपरस्त भी हैं।'

अब तो मुझे दिल की पूरी पूरी बात कहनी ही पड़ी। 'देखिये बापूजी, आप तो बड़े आदमी हैं। जो लोग आपके पास आते हैं, वे अपनी ढाल की उजली बाजू ही आपकी तरफ रखते हैं। हम छोटे लोग ही उसे सब तरफ से देख सकते हैं। ढाल की दूसरी बाजू कितनी काली और मैली है, यह हम ही देख सकते हैं। इसलिए आपको हमारे जैसों की राय पर भी ध्यान देना चाहिए।'

गांधीजी ने तुरन्त कहा, 'यह तो हो सकता है। किन्तु मैं भी आदमियों को पहचानने का दावा कर सकता हूँ। कोई आदमी मुझे आसानी से धोका नहीं दे सकता। और एंड्रयूज तो मेरे इतने नजदीक आ गये हैं कि मैं उन्हें नहीं पहचानूं, यह तो नामुमकिन है। हाँ, श्री एंड्रयूज हैं तो अंग्रेज। अंग्रेज जहाँ जायगा, अपना प्रभुत्व जमाये बिना नहीं रहेगा। उसके स्वभाव की यह खूबी समझकर आपको उसे बरदास्त करना चाहिए। वे निर्मल हैं और पुण्य पुरुष हैं। श्री एंड्रयूज को हिन्दुस्तान की सेवा द्वारा इंगलैंड की सच्ची सेवा करनी है। वे

इंगलैंड को सच्चे हृदय से चाहते हैं इसलिए इंगलैंड के हाथों हिन्दुस्तान के प्रति होने वाला अन्याय उनके लिए असह्य हो जाता है । अगर वे इंगलैंड को नहीं चाहते तो इस प्रकार हिन्दुस्तान की सेवा करने के लिए उद्यत नहीं होते ।

"तुम जो उन पर इल्जाम लगा रहे हो, उसके लिए तुम्हें सबूत देना होगा ।"

मैंने कुछ सोच-विचार कर दो एक टूटे-फूटे सबूत पेश कर दिये । किन्तु गांधीजी के दिल पर उनका कुछ भी असर नहीं हुआ ।

उस दिन मैं बड़ा अस्वस्थ होकर अपने कमरे में लौटा । गांधीजी ने जो दृष्टि बतायी वह उन दिनों हमारे पास थी ही नहीं । हम रावण और विभीषण को ही पहचानते थे । यहाँ तो शुद्ध मानवता को पहचानना था । मैंने गांधीजी से इतना ही कहा कि "आपने एक नयी दृष्टि बतायी है । उस दृष्टि से श्री एंड्रयूज की तरफ देखने की कोशिश करूँगा और अपने मत को बार-बार परखता रहूँगा । इस वक्त मैं इतना ही कह सकता हूँ ।"

मैंने मन में बहुत कुछ सोचा । श्री एंड्रयूज से बहुत परिचय बढ़ाया । किन्तु उन से कभी यह नहीं कहा कि किसी समय आपके प्रति मेरे मन में घोर शकाएं रह चुकी हैं ।

एक दिन ऐसी ही कुछ बातें हो रही थीं । बातचीत के सिलसले में बिलकुल स्वाभाविकतया श्री एंड्रयूज ने कहा, "मुझे हिन्दुस्तान का नेता या गुरू नहीं बनना है । मैं अंग्रेज हूँ, नम्र सेवक बनकर ही मैं हिन्दुस्तान की सच्ची सेवा कर सकता हूँ । मैं ऐसे अग्रेजों को जानता हूँ जो हिन्दुस्तान में आकर गुरू, नेता या मालिक बनकर हिन्दुस्तान के लोगों को उपदेश देने लगते हैं । मुझे वैसा काम नहीं करना है । हिन्दुस्तान के लोगों का उद्धार हिन्दुस्तान के लोगों द्वारा ही होगा । उद्धार का रास्ता वे ही ढूढेंगे और तय करेंगे । हिन्दुस्तान के लोगों की जो कुछ सेवा मुझसे बन सके, वह करना मेरा काम है । वह सेवा भी हिन्दुस्तान के लोग जिस तरह मुझसे लेंगे, उसी तरह मुझे करनी है ।"

इतनी बातें सुनने के बाद मेरा दिल साफ हो गया और मैं श्री एंड्रयूज को दुनिया के श्रेष्ठ पुरुषों में गिनने लगा। जैसे-जैसे उनकी मानवता से मेरा परिचय बढ़ता गया, वैसे वैसे उनके प्रति मेरा आदर भी बढ़ता गया।

आज दर्द इसी बात का है कि उनकी तरफ से सब तरह का प्रोत्साहन होते हुए भी मैंने उनके सत्संग का लाभ अधिक क्यों नहीं उठाया ? कभी कभी वर्षा में उनसे मिलता था और अनेक विषयों पर हमारी चर्चाएँ होती थीं; लेकिन मुझे उनके समय का हमेशा ख्याल रहता था और मेरा काम भी मुझे ज्यादा बैठने नहीं देता था। आज जब उनका सत्संग अलभ्य हो गया है, उनकी दी हुई एक किताब— 'दी क्रीड ऑफ क्राईस्ट'—पढ़ रहा हूँ और इस तरह उस महान् आत्मा का सत्संग प्राप्त कर रहा हूँ।

श्री एंड्रयूज के बारे में लिखने लायक बहुत कुछ है। यहाँ तो केवल उनसे प्रथम परिचय का संस्मरण ही शब्दबद्ध करना था।

मई १९४०

——

७-३

दीनबंधु-मनन

आज पांचवीं अप्रेल है। एक स्नेह ही ने मुझे याद न दिलाई होती तो मुझे ख्याल नहीं आता कि आज दीनबंधु अंडरूज़ का दिन है। लेकिन अंडरूज़ का स्मरण होने के बाद सारा दिन उन्हीं की नज़दीक में व्यतीत होना स्वाभाविक था, अपरिहार्य था।

इंग्लैंड का एक श्रेष्ठ सुपुत्र हिन्दुस्तान की सेवा करते-करते बंगाल में—कलकत्ते में आखरी नींद के लिए सो गया। यह ख्याल मन में उठते ही ऐसा एक दूसरा प्रसंग तुरंत याद आया। बंगाल का एक सुपुत्र—नवभारत का एक निर्माता—राजा राममोहन रॉय विलायत जाकर, दोनों देशों की सेवा करते-करते वहां ब्रिस्टल में सो गया। मानो दान और आदान समान हो गये।

राजा राममोहन रॉय और दीनबंधु चार्ली अंडरूज़ दोनों ने, हिन्दु-स्तान और इंग्लैंड के द्वारा मानवता की उच्च कोटि की सेवा की है। मैंने राममोहन रॉय को देखा नहीं था। किन्तु दीनबंधु के साथ घनिष्ठ परिचय का सौभाग्य मुझे प्राप्त था। इस प्रेमल-पवित्र व्यक्ति का दर्शन कितना प्रसन्न और पावन था वह उनके परिचय में आने वाले सब लोग आज भी कह सकते हैं।

मिस्टर अंडरूज़ का जब प्रथम दर्शन हुआ तब मैं संकुचित राष्ट्रीयता से भरा हुआ था। सब-के-सब मिशनरी लोग हमारे देश के, हमारे धर्म के, हमारी संस्कृति के और हमारे स्वराज्य के शत्रु हैं, यह ख्याल दिल

में ऐसा बैठ गया था कि लाख कोशिशें करने पर भी वह निकलता न था। इसी का एक खास कारण भी था। देश के एक बड़े नेता को मैंने कहते सुना था कि "कोई मिशनरी अगर राजनैतिक ख्याल से हमारे बीच काम करे तो उससे मैं इतना नहीं डरता हूँ; उसकी मक्कारी तुरंत पहचानी जाती है। लेकिन जो पादरी लोग सचमुच धर्मनिष्ठ होते हैं, ईसा के भक्त होते हैं और शुद्ध सेवा-भाव से हमारे लोगों के बीच काम करते हैं, उनसे खतरा ज्यादा है। हमारी भोली और कृतज्ञ जनता उनसे प्रभावित होती है और उनके चंगुल में आ जाती है।"

इस वचन का मेरे मन पर इतना गहरा असर हुआ था कि मि० अंडरूज़ की पारदर्शक भलाई देखकर भी मैं उनसे दूर रहने लगा। उन दिनों मैं शांतिनिकेतन में था। एक दिन जब गाँधीजी शांतिनिकेतन आये मैंने अपने दिल की बात—मि० अंडरूज़ के बारे में–गांधीजी से कह दी और कहा कि 'चन्द बंगाली भी मेरी राय के हैं।'

गांधीजी ने अजीब ढंग आजमाया। हम शिक्षक इकट्ठा हुए थे। वहाँ अंडरूज़ को बुलाकर उनसे कहा कि "देखो, इनमें से चन्द लोगों के ऐसे-ऐसे ख्याल है!"

बेचारे अंडरूज! उन्होंने सिर झुकाकर सब कुछ सुन लिया। मुझे बड़ी शर्म आई। फिर गांधीजी की वाग्धारा चली। उन्होंने कहा, चार्ली अंडरूज़ को मैं अच्छी तरह पहचानता हूँ। मानवता के पुजारी इनसे बढ़कर, शायद ही कहीं मिल सकते हैं। अंग्रेजों का स्वभाव इनमें भी है। अपने अभिप्राय के जिद्दी हैं। अपने विचार औरों पर लादना इनके लिए स्वाभाविक है। आप इनके प्रभाव में आ गये तो उसमें इनका क्या दोष? ऐसे उदार हृदय के अंग्रेजों के साथ अगर हमारी जनता का संबंध आया तो उसका कल्याण ही होगा। चारित्र्य का ऊँचा ख्याल उन्हें मिलेगा" इ०। बेचारे अंड्रूज़ ऐसे तो शरमा गये और हमें—हमें तो मनुष्य के प्रति देखने की नई दृष्टि मिल गई। मैं बाद में तो उनके अधिकाधिक नजदीक पहुँचने लगा और उनके चारित्र्य की खुशबू से मोहित हुआ।

मि० अंडरूज़ के भोले स्वभाव के बारे में, चीज़ें भूल जाने की उनकी आदत के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। ऐसे स्वभाव के कारण भी वे अधिकाधिक प्यारे ही बनते थे। किसी की चीज माँग कर के ले ली, किसी को दे दी। जेब में पैसे हैं या नहीं इसका ख्याल ही नहीं! हर एक को भला समझकर हर एक पर विश्वास रखना और बन जाने पर हंस पड़ना उनकी उच्च सेवा के ये स्वाभाविक अंश थे। मि० अंडरूज़ में जो कुछ भी श्रेष्ठता थी, ख्रिस्त-भक्ति के कारण उनमें आई थी। ख्रिस्ती धर्म के कई तत्त्वों के प्रति उनके मन में श्रद्धा नहीं थी। इसलिए कई सनातनी, रुढ़िवादी ख़्रिस्ती लोग उन्हें नास्तिक कहते थे। उनके हाथों मि० अंडरूज़ ने बहुत कुछ सहन किया। सहन करके वे ऊँचे उठे।

अगर एक शब्द में इस सेवामूर्ति का वर्णन करना हो तो हम कह सकते हैं कि इस दीनबन्धु में स्त्री हृदय था, मातृहृदय था।

मई १९५१

——

८

आज़ादी के शिल्पकार मौलाना आज़ाद

मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपनी ६९ साल की आयु में कितना जबरदस्त काम करके दिखाया! जब सन् १९५० की अगस्त में मैं अरबस्तान के दक्षिण-पश्चिम सिरे पर अदन में हिन्दू, मुस्लिम, पारसी और ईसाई लोगों की एक सभा में भारत का मिशन समझा रहा था तब मैंने यही कहा था कि आपके इस अरबस्तान के पवित्र शहर मक्का में जिसका जन्म हुआ वही एक पाक मुसलमान भारत की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस का अध्यक्ष सबसे ज्यादा दिन रह चुका है और आजाद भारत के शिक्षातन्त्र का सबसे बड़ा मुखिया है। भारत ने अरबस्तान को बड़े-से बड़े इस्लामी आलिम दिये और मक्का में और काहिरा में पले हुए, पढ़े हुए मौलाना आज़ाद के हाथ में भारत की बागडौर विश्वासपूर्वक सौंप दी। ऐन कसौटी के दिनों में सौंप दी। यह है भारत का और इस्लामी जगत का सम्बन्ध।

मौलाना साहब के पुरखा भारतीय थे। कठिन समय आने पर मक्का जा बसे थे। मौलाना साहब का जन्म मक्का में हुआ, पढ़ाई ईजिप्त के इस्लामी विश्वविद्यालय इल हजर में हुई। और उन्होंने कुरान-शरीफ पर का अपना विख्यात भाष्य बिहार के रांची जैसे शहर में लिखा। अलहिलाल के एडिटर मौलाना अबुल कलाम आज़ाद स्वयं ही इस्लामी और भारतीय संस्कृति और भारत की राष्ट्रीयता और मानवता के हिलाल याने मशाल थे।

एक तरह से मौलाना साहब को हम बंगाली भी कह सकते हैं। क्योंकि अपने जवानी के दिनों में उन्होंने वहीं पर अपने कार्य का प्रारंभ किया। अंग्रेजों ने उनकी पूरी-पूरी कसौटी की। सम्प्रदायवादी मुस्लिम लीग ने उनकी काफी निन्दा की। कायदे-आजम जिन्ना ने कमर कसके उनकी मुखालिफत की। लेकिन मौलाना साहब की भारत निष्ठा, स्वतन्त्र्यनिष्ठा और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर का विश्वास कभी भी मन्द नहीं हुआ। कांग्रेस के बुरे-से-बुरे दिनों में उन्होंने कांग्रेस का साथ नहीं छोड़ा। और कांग्रेस ने भी उन पर अपना विश्वास कभी भी कम होने नहीं दिया। कांग्रेस के साथ मौलाना साहब हृदय से एकरूप हो गये थे। भारत के कोने-कोने के सब सेवकों को वे पहचानते थे और कोई भी छोटा बड़ा सवाल खड़ा हो, अपनी उदारता और व्यवहार-चतुरता के बल पर सबके भले का रास्ता ढूँढ़ ही निकालते थे।

गांधीजी की 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के वे शुरू से अत्यन्त आदरणीय सदस्य और सलाहगार रहे और मुझे कहते संतोष है कि इस संस्था को चलाते मुझे उनका बड़ा सहारा था। महात्मा गांधीजी के बाद में राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, दोनों की सलाह के आधार पर ही इस संस्था का काम चलता रहा।

आज़ादी के साथ जब भारत का बँटवारा हुआ, तब दुनिया यही जानती थी कि जिस तरह पाकिस्तान मुसलमानों का राज है वैसे ही भारत हिन्दुओं का राज्य हुआ है। यहाँ तक कि जब स्वतन्त्र भारत ने अपने राजदूत के तौर पर इजिप्त के लिये श्री अलियावर जंग को भेजा तब वहाँ के अखबारों ने उनका पाकिस्तान के एम्बेसेडर के तौर पर ही लोगों को परिचय दिया! जब सही हकीकत अखबार वालों को बताई गई तब उन्हें आश्चर्य हुआ कि हिन्दू भारत के प्रतिनिधि मुसलमान कैसे?

जब परदेश के साथ भारत का सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाने के लिये Indian Council for Cultural Relations की स्थापना हुई तब उस संस्था के द्वारा उसके अध्यक्ष की हैसियत से मौलाना साहब ने

पश्चिम के इस्लामी देशों में ऐसा सुन्दर प्रचार चलाया कि अब वहाँ के लोग बराबर समझ गये हैं कि भारत सब धर्मों के प्रति एकसा आदर रखता है और भारत में मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी सब धर्मों के लोग हिन्दू के जितनी ही आज़ादी से अपने-अपने धर्म का पालन कर सकते हैं और भारत माता सबकी एक-सी माता है। जब सन् १९५२ के नवम्बर में मैं पश्चिमी अफ्रीका से त्रिपोली होकर इजिप्त पहुँचा, तब मैंने देखा कि वहाँ के मुसलमान और अखबार वाले भी भारत की सर्व-धर्म-समभाव वाली नीति को अच्छी तरह से समझ गये हैं और उसकी कदर भी करते हैं। काहिरा के पत्र-प्रतिनिधियों ने मुझे जो सवाल पूछे, उसमें भारत के बारे में कहीं भी गलतफहमी न थी। मैंने यह भी देखा कि मौलाना साहब ने जो अरबी रिसाला I. C. C. R. की तरफ से जारी किया था, उसे इजिप्त के लोग चाव से पढ़ते थे और भारत की संगम संस्कृति की खूबी समझकर खुश होते थे।

सचमुच भारत को अपनी उदार, सर्व-समन्वयकारी संस्कृति को चलाने में मौलाना साहब ने बहुत बड़ी मदद की और एशिया की नई नीति मजबूत करने में उनका बड़ा हिस्सा था।

अपनी सारी जिन्दगी इस तरह से तेजस्वी सेवा में व्यतीत करके मौलाना साहब ने भारतमाता के एक सपूत होने का परिचय दिया और एक कृतज्ञ राष्ट्र की श्रद्धांजलि पाकर इस दुनिया में वे स्मृतिशेष हो गये। उनकी यह परम्परा चलाने का भार भारत के सब लोगों पर है।

२२-२-५८

९

डॉ० खान साहब

गाँधीजी के कांग्रेसी राजकारण में शूरू में अलीबंधु का महत्त्व था। महमद अली, शौकत अली की जोड़ी ने असहयोग के दिनों में हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने में गांधीजी की बड़ी मदद की। जब गाँधीजी के स्वराज्य आंदोलन ने जोर पकड़ा तब अलीबन्धु गांधीजी के साथ न रह सके।

सरहद के राजनीतिक आंदोलन में डॉ० खानसाहब और उनके छोटे भाई खान अब्दुल गफार खान अपनी तेजस्वी तत्त्वनिष्ठा के कारण देश की नजर में खरे सिद्ध हुए। इन दोनों में अब्दुल गफार खान, जिनको लोग 'बादशाह खान' कहते हैं, अपनी साधुचरित धर्मनिष्ठा के कारण सरहद के गांधी कहलाये। उन्होंने चारित्र्य के बल पर राष्ट्र की सेवा करने के लिए खुदाई खिदमतगार नाम की एक बड़ी संस्था स्थापित की। अंग्रेज लोगों ने खानबन्धुओं को काफी परेशान किया। लेकिन उससे खानबन्धुओं की तपस्या बढ़ी, लोकप्रियता बढ़ी और सरहद की सरकार उनसे डरने लगी।

शुरू से देखा गया था कि बादशाह खान तत्त्वनिष्ठा के पक्के थे। उनके बड़े भाई डॉ० खानसाहब सद्बुधि चलाकर समझौता करने में मानते थे। उनकी सारी राजनैतिक सेवा समझौते से भरी हुई है। त्याग और बलिदान में डॉ० खानसाहब कम नहीं थे। अंग्रेज सरकार के हाथों और पाकिस्तान सरकार के हाथों भी उन्हें जेल सहन करनी पड़ी थी। समझौते से काम चलाने के उनके स्वभाव से लाभ उठाना

पाकिस्तान के नेता जानते थे। उन्होंने डॉ० खानसाहब का जितना हो सके, काफी उपयोग कर लिया। दोनों भाईयों के मार्ग अलग-अलग हो गये लेकिन पाकिस्तान की राजनीति डॉ० खानसाहब को हजम न कर सकी। उन्होंने प्रधानपद से इस्तीफा दे दिया। तो भी उनका प्रभाव कम नहीं था। क्योंकि वे सच्चे शूर योद्धा थे, नेक राष्ट्रसेवक थे।

कितने दुर्देव की बात है कि ऐसे वयोवृद्ध, तेजस्वी, नेक आदमी का किसी पापी मनुष्य ने खून किया! पवित्र और निर्दोष व्यक्ति का खून धरती पर गिरने से धरती सिहर उठती है और समाज को, राष्ट्र को और स्थानिक सरकार को ऐसे कुकर्म के लिये काफी भुगतना पड़ता है।

इस खून के पीछे किसका हाथ था, यह समझना आसान नहीं है। लेकिन पाकिस्तान के लिये यह बड़ी बुरी बात है, कि उसने ऐसे एक नेक सेवक को खोया।

जब डॉ० खानसाहब गांधीजी को मिलने वर्धा आये थे, तब मैं वहाँ बीमार था। डॉ० खानसाहब ने बड़े प्रेम से मेरी चिकित्सा की, दवा दी और रोज खैरियत पूछने मेरे पास आते थे। उनके स्वभाव की सुगन्धि मैं उन दिनों अच्छी तरह से अनुभव कर सका था। उनके खून की बात सुनकर विशेष दर्द होना स्वाभाविक था।

बहादुर पठान जाति में ऐसे कई नेक लोग होंगे, जिनकी तपस्या से पाकिस्तान की हालत सुधर सकती है। लेकिन आज कुटिलता का वहाँ जोर है। डॉ० खानसाहब के बलिदान से पाकिस्तान की हालत सुधर जाय तो बलिदान ही ईश्वर की कृपा का कारण बनेगा। आज तो सारा वायुमण्डल शापित है। पुण्यपुरुष बादशाह खान को हम अपनी हमदर्दी नम्रतापूर्वक अर्पण करते हैं।

१३ मई, १९५८

१०

राज्यधुरंधर पं० पंतजी

भारत की आजादी के एक प्रमुख योद्धा और सेनापति और आजाद भारत के एक कुशल और समर्थ राज्यकर्ता भारतरत्न श्री गोविन्द वल्लभ पन्त ने आजादी के जंग में अपने सिर पर लाठी की चोट खाई, लेकिन कभी भी सिर नमाया नहीं। प्रथम उत्तर प्रदेश में और बाद में सारे भारत में सब लोगों को सँभालकर एकत्र रखने में उनकी उदारता और कुशलता समय-समय पर प्रकट हुई थी।

पन्तजी के पूर्वज महाराष्ट्री थे। दक्षिण के जो अनेक धर्मनिष्ठ लोग पवित्र हिमालय में जा बसे उनमें पन्तजी के पूर्वज भी थे।

स्वराज्य-प्राप्ति के दिनों में जो हिन्दू-मुस्लिम तनाजा चल रहा था उसका इलाज ढूँढ़ने में गांधीजी को जिनकी विशेष मदद मिली उनमें पंतजी का नाम आदर के साथ लेना चाहिए। पंतजी की राष्ट्रीयता, दीर्घदृष्टि और प्रसंगावधान—तीनों के बारे में गांधीजी के मन में बड़ी इज्जत थी।

स्वतंत्र भारत की आवश्यकतानुसार जब नवराज्य रचना की गई तब उसके सामने जो अनेकानेक सवाल खड़े हुए उनका हल सबके लिए संतोषजनक हो इसकी चिन्ता में पंतजी हमेशा रहते थे। अगर उन्हें पूरा समय मिलता तो हमें विश्वास है कि धीरे-धीरे उन्होंने कुछ-न-कुछ रास्ता निकाला ही होता।

कुशल सेनापति और कुशल राज्यधुरंधर के तौर पर पंतजी का नाम आजाद भारत के इतिहास में आदर के साथ लिया जाएगा।

१५ मार्च १९६१

११

भारत-रत्न टंडनजी

दुबले पतले, छोटे-से शरीर वाले लोग भी कभी कभी केवल अपनी आँख के तेज से और मजबूत आवाज से जन-समाज पर अद्भुत प्रभाव डालते हैं। अगर इन दो गुणों के साथ हृदय की आर्यता और जीवन की तपस्या मिल जाय तो फिर पूछना ही क्या, सोना और सुगन्ध ! श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास टंडनजी में ये सब बातें हैं। जब वे जोश में भरकर बोलते हैं तब उनके छोटे-से शरीर में विचारों का वेग समाता नहीं है। उनके गलेकी नसें फूल जाती हैं, और ऐसा मालूम होता है कि उनका दुबला पतला शरीर जो नहीं कर सकता, उसे उनकी अदम्य संकल्प-शक्ति अवश्य कर लेगी। यूँ तो वे बिलकुल सरल हैं, स्वभाव के बड़े मुलायम। बालक की तरह आशुतोष, और सेवापरायण के जैसे निरभिमानी। किन्तु अपने विचार में और कार्य पद्धति में उनका-सा जिद्दी शायद ही कोई दूसरा हो। बहुत से लोग अपनी महत्वाकांक्षा के सामने अपने सिद्धान्तों को ढीला कर देते हैं। टंडनजी ने अपने जीवन सिद्धान्तों के पालन के सामने अपनी महत्वाकांक्षाओं का कभी विचार न किया होगा। टंडनजी 'शाक्त' भी हैं और 'भक्त' भी हैं। उनके स्वभाव का रहस्य और उनकी तपस्या का मर्म इसी एक बात में है।

अठ्ठाईस वर्ष पहले नौजवान पुरुषोत्तमदास ने मालवीयजी के सामने संकल्प किया था कि देश में हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ाने की वे दिलोजान से कोशिश करेंगे। उन दोनों ने मिलकर राजेन्द्र बाबू जैसे

देश के अनेक हिन्दी-भक्तों को इकट्ठा कर लिया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। शुरू से ही सम्मेलन का उद्देश्य हिन्दी को देश के व्यवहार में प्रधानता देना था। दूसरी दूसरी भाषाओं के साहित्य सम्मेलन कभी बैठते हैं, कभी जोश में आ जाते है और कभी निराशा में गिर जाते हैं। किन्तु हिन्दी-साहित्य सम्मेलन तो प्रयाग की गंगाकी तरह अखंड स्रोत से बहता ही चला जा रहा है। देश के बड़े बड़े राष्ट्र-सेवक और साहित्य सेवक इस संस्था के सभापति रह चुके हैं। लेकिन सम्मेलन के कर्णधार तो उसके जन्म दिन से लेकर आज तक श्री टंडनजी ही रहे हैं। पहले प्रधान मंत्री की हैसियत से, उसके बाद सभा-पति बनकर और आज उसके कार्याध्यक्ष होकर सम्मेलन-संस्था की नीति का और धुराका वे ही वहन करते आ रहे हैं।

टंडनजी ने प्रयाग में वकालत की, नाभा रियासत की दीवानी की, बैंक का संचालन किया, संयुक्त प्रान्त के राजनैतिक-क्षेत्र में अपना महत्त्व का और सम्मान का हिस्सा लिया। लाला लाजपतराय के देहान्त के बाद उनके 'लोक सेवक-मंडल' का नेतृत्व भी अपने ऊपर लिया। अनेक रूपों में उन्होंने राष्ट्र-सेवा की है। किन्तु उनके जीवन का मुख्य कार्य, एक मात्र चिन्ता और अखंड उपासना तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन ही है। जिसने जीवन-भर में स्वयं एक छोटी-सी कविता, साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से दिया हुआ एक भाषण और एक किताब की एक छोटी-सी प्रस्तावना को छोड़कर हिन्दी साहित्य को कभी कुछ भेंट नहीं किया, उसने हिन्दी साहित्य की अद्भुत और बेजोड़ सेवा की है।

प्रायः साहित्यकार और पंडित स्वभावतः इकल्ले होते हैं। ईर्ष्या और तुनुकमिजाजी को तो मानों उन्होंने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' बना लिया है। ऐसे लोगों को साथ लेकर एक बहुत बड़ी संस्था चलाना, और साहित्य-सेवियों और स्वराज्य-सेवियों को एक सूत्र में बांध देना, यह कोई मामूली करामात नहीं है। रेलगाड़ी के दो डिब्बे जब एक दूसरे से टकराते हैं तब उस आयात को सहन करने के लिये बीच में एक बहुत मजबूत और असाधारण सहनशील कमानी रक्खी जाती है जिसे

अंग्रेजी में 'बफर' कहते हैं। डब्बों का हिफाजत के लिये सारा आघात इस बफर को ही सहन करना पड़ता है। सम्मेलन को सँभालते न जाने कितनी बार टंडनजी को बफर की भूमिका धारण करनी पड़ी होगी। उनके जैसे स्वाभिमानी और निस्पृह सच्चे सेवक के लिये यह कुछ कम तपस्या नहीं है। जब कोई बात उनकी समझ में नहीं बैठती तब वे अपनी राय साफ साफ जाहिर कर देते हैं। किन्तु साथ साथ उनमें यह भी गुण है कि अपनी राय कहने के बाद अपने साथियों को वे कभी मंझधार में छोड़ नहीं देते। उनमें गुरु भक्ति और दूसरों को अपनाने का बल, ये विशेष गुण हैं। कार्य क्षेत्र में जितने भी सेवक उनके सम्पर्क में आते हैं, उन सभी के प्रति टंडनजी का यह भाव बिलकुल स्वाभाविक रीति से प्रकट हो जाता है।

अगर टंडनजी कभी हिन्दी-उर्दू के झगड़ों में फँस जाते तो सम्मेलन का जहाज-बे-पतवार का होकर तूफान में उलट जाता, और कभी का छिन्न-भिन्न हो जाता। किन्तु उनकी हिन्दी-भक्ति उनको मुस्लिमों का द्वेष या उर्दू का भय नहीं सिखाती। वे खूब तपे-तपाये शुद्ध सोने की तरह कांग्रेस-निष्ठ हैं, सच्चे राष्ट्रीय हैं और पूर्ण स्वराज्य-भक्त हैं। उनकी सम्मेलन सेवा स्वराज्य-सेवा का ही एक महत्व का अंग है। उनकी साहित्यिक अभिरूचि उनकी उक्त संस्कारिता और जीवन समृद्धि से ही फलित हुई है। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जैसा सेवक जिस भाषा को मिला है, उस भाषा का भाग्योदय निश्चित है।

जनवरी १९४०

११–२

हिन्दी के अनन्य भक्त

भारत के सार्वजनिक जीवन में जिन इने-गिने चारित्र्य-सम्पन्न नेताओं का प्रभाव है, उन में श्री टण्डनजी की गणना हमेशा होती है।

महात्मा गांधीजी ने भारत लौटने के पहले ही अपनी छोटी सी पुस्तिका 'हिन्द स्वराज' में हिन्दी का राष्ट्रभाषा के तौर पर स्वीकार किया था। भारत लौटते अपने पहले महत्त्व के भाषण में उन्हों ने अपने इस विश्वास को दोहराया। स्वाभाविकतया टण्डनजी गांधीजी के प्रति आकृष्ट हुए।

इन्दौर के प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गांधीजी ने इस बातपर जोर दिया कि अगर हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते हैं तो उसके प्रचार के लिए—हिन्दी की पढ़ाई के लिए अहिन्दी प्रान्तों में सक्रिय प्रयत्न करना चाहिये। गांधीजी ने वह काम अपने सिर पर लिया और उसके लिए उन्होंने जीवनदानी सेवक तैयार किये। गांधीजी के प्रयत्न से उत्तर और दक्षिण भारत का सहयोग बढ़ा। पूर्व और पश्चिम भारत में भी हिन्दी का सन्देशा पहुँचा। और हिन्दी के प्रचार के लिए संस्थायें स्थापित हुई। यह सारा उज्ज्वल इतिहास देश जानता है। बाद में थोड़ा तात्त्विक मतभेद हुआ सही, लेकिन परस्पर आदर और यावच्छक्य सहयोग तो कायम रहा। गांधीजी और टण्डनजी दोनों की देशभक्ति, राष्ट्रीयता और चारित्र्य-शुद्धि एकसी उज्ज्वल थी। दोनों के बीच अगर मतभेद हुआ तो वह केवल तात्त्विक ही था। लेकिन था महत्त्व का

आज की परिभाषा में यह मतभेद आसानी से स्पष्ट हो सकता है।

जिसे हम राष्ट्रभाषा कहते हैं वह होनी चाहिये भावनात्मक एकता सिद्ध करने के लिए शक्तिशालिनी। जब परदेशी राज्यकर्ता अपने राज, अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपनी संस्कृति को ही भारत को एक रखने का एकमात्र तत्त्व बनाना चाहते हैं तब हमें सब भारत-वासियों को एकत्र ला सके, सबों की सांस्कृतिक भूख तृप्त कर सके ऐसी भाषा को ही राष्ट्रभाषा बनाना चाहिये।

कई अंग्रेज कहते ही थे कि भारत की राष्ट्रीय एकता केवल अंग्रेजों के राज्य के कारण है। अगर यह राज्य हट गया तो रेत को लड्डू के जैसी भारत की हालत होगी।

बाद में वे कहने लगे कि भारत में जो अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हुआ है, उसके कारण भी भारत के लिखे-पढ़े लोगों के अन्दर अंग्रेजी भाषा की एकता है। अंग्रेजी का राज और अंग्रेजी भाषा का प्रचार और प्रभाव ये दो ही भारत की एकता को बना रहे हैं।

अंग्रेजों का राज गया और स्वराज हुआ। लेकिन उसके साथ देश का बंटवारा भी हुआ। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान ऐसे दो राष्ट्र हुए। यह तो एक कमजोरी मंजूर रखनी ही पड़ी, लेकिन साथ-साथ पाकिस्तान के मनमें मनोमालिन्य रहा। यह भी दुर्बलता का एक तत्त्व मोल लेना पड़ा है।

गांधीजी ने हिन्दी की ऐसी व्याख्या की जिस में उर्दू का अन्तर्भाव होता था। टण्डनजी भी उर्दू को हिन्दी का ही एक रूप मानते थे। लेकिन उसे विकृत रूप कहते थे। गांधीजी ऐसी चर्चा में शरीर न होते हुए ऐसी शैली को चलाना चाहते थे जिसमें हिन्दी, उर्दू दोनों एक-सी निभा सकें और जब तक लिपि के बारे में समझौता नहीं हुआ है, दोनों लिपि मंजूर कर के आगे बढ़ना वे पसन्द करते थे।

इस देश में हिन्दुओं की संख्या अधिक है, हिन्दू संस्कृति की प्रधानता है। उस संस्कृति का असर सारे देश पर पड़ना स्वाभाविक है। इसलिए

टण्डनजी चाहते थे कि राष्ट्रीयता के खातिर मुसलमान भी हिन्दी और नागरी का स्वीकार करें। गांधीजी कहते थे कि भारत में फूट को देखने वाले और उसे प्रोत्साहन देनेवाले अंग्रेज सिर पर हैं, उनकी भेद-नीति को तोड़ना है। स्वराज प्रेमी को चाहिए कि वह जरूरी कीमत खुशी से दे। आगे जाकर जब मोमालिन्य दूर होगा, भ्रातृभाव बढ़ेगा तब राष्ट्रभाषा अपनी स्वाभाविक शैलीपर आ ही जायगी और लिपि का भी सवाल सबके सन्तोष से हल होगा। अगर अंग्रेजों से सफलता-पूर्वक असहयोग करना है तो देश-वासियों के अन्दर-अन्दर मजबूत से मजबूत सहकार होना ही चाहिये। भारतीय समाज में हिन्दू समाज बड़ा भाई है। छोटे भाई को राजी करने की जिम्मेवारी उसकी है। आजादी अर्थात् स्वराजरूपी रत्न पाने के लिये चाहे सो कीमत देनी चाहिये। स्वराज में जिस का त्याग अधिक, उसकी प्रतिष्ठा अधिक यही स्वाभाविक नियम चलेगा।

जो हो, भारत का बँटवारा हम टाल नहीं सके। उसका दर्द रोने से कई लाभ नहीं है।

आज दूसरा ही संकट हमारे सिर पर है। गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के लिये जो वायुमण्डल तैयार किया था वह आज नहीं है। राष्ट्रीय सविधान में हिन्दी को जो स्थान दिया गया था, वह आज तत्त्वतः कायम है। वस्तुतः नहीं है। हिन्दी को आगे ले जानेवाला एन्जीन काम नहीं कर रहा है। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अंग्रेजी आगे बढ़ रही है। राष्ट्रभाषा होनी चाहिए 'लैंग्वेज ऑफ ईंटीग्रेशन'—भावनात्मक एकता सिद्ध करनेवाली भाषा। हिन्दी के लिए गांधीजी ने इस दिशा मे कोशिश की थी। हिन्दी में आज वह शक्ति नहीं रही। पाकिस्तान होने के बाद भारत के मुसलमानों ने राष्ट्रभाषा के बारे में बोलना ही छोड़ दिया है। अब दक्षिण के लोग और पूर्व के कई लोग हिन्दी की ओर शक की निगाह से देखने लगे हैं। हिन्दी की ओर से शंकानिवृत्ति के लिए सबको आश्वासन देने में कहीं भी कंजूसी नहीं है। राष्ट्रमूर्ति राजेन्द्रबाबू से लेकर छोटे से छोटा दिन्ही प्रचारक भी सब भाषाओं को अभयदान देता आया है।

इस प्रवृत्ति में केवल हमारे राज्यकर्ता ही शरीक नहीं हैं। अंग्रेजी भाषा में भारतीय संस्कृति को विशद करने वाले ग्रन्थ बढ़ते आये हैं। स्वामी विवेकानन्द ने अपना प्रचारकार्य अंग्रेजी में और बँगला में ही किया। हृषीकेश के स्वामी शिवानन्द और सुदूर दक्षिण के स्वामी रामदास अपना अधिकांश काम अंग्रेजी में ही करते हैं। भारतीयों का आर्थिक व्यवहार चलाने वाली सब स्वदेशी बैंकों का व्यवहार आज भी अंग्रेजी में ही चलता है। जिनकी जन्मभाषा हिन्दी है ऐसे लोगों की ओर से अच्छे से-अच्छे अंग्रेजी अखबार चलाये जाते हैं। देश की अनेकानेक राष्ट्रसेवा की संस्थाए अपना काम अंग्रेजी में चलाती हैं। शादियों के आमन्त्रण कितने हिन्दी में छपते हैं और कितने अंग्रेजी में इसका हिसाब लगाने से भी पता चलेगा कि राष्ट्र जीवन पर प्रभाव किस भाषा का अधिक है। गांधीजी सर्वसमन्वयकारी भावनात्मकय ऐक सिद्ध करने वाली नीति इस क्षेत्र में परास्त हुई। अपनी शक्ति, अपने हाथों तोड़कर हम कमजोर बने हैं। तो भी अगर राष्ट्र निश्चय करेगा कि समन्वय वृत्ति से सब को सँभालने का हृय प्रण करते हैं, तो अब भी प्रजा में नवजीवन का संचार करने वाली प्रान्तीय भाषाओं से सहयोग प्राप्त कर हिन्दी अपने स्थान पर मजबूत हो सकेगी। इसके लिये स्वराज सरकार की नीति के खिलाफ घोर आन्दोलन चलाने की आवश्यकता नहीं है। सरकार तो लोकस्थिति का प्रतिबिम्ब ही होती है। जिन का विश्वास है कि अंग्रेजी के द्वारा ही भावनात्मक एकता सिद्ध हो सकती है और हिन्दी के द्वारा नहीं, उन को उन के रास्ते जाते हम रोक नहीं सकते। जिस योग्यता से गांधीजी ने ऐसे लोगों को अपनी ओर खींच लिया था, उसी योग्यता के साथ आज अगर हम सब हिन्दी वाले उनका अनुनय करें तो आज भी सफलता मिल सकती है।

हिन्दी के प्रति सामान्य जनता का विरोध तो है नहीं। उन को तो जो भाषा सीखने से नौकरियाँ मिल सकती हैं और व्यवहार सुगम होता है वही भाषा सीखनी है। ऐसी जनता को अगर हम समझा सके कि अंग्रेजी भाषा का राज पूरा स्वराज नहीं है, जनता ही सचमुच भारत

की राज्यकर्ता है, जनता की भाषा में ही स्वराज का कारोबार चलाना चाहिये, जनता जो चाहे सो हो सकता है और अगर अगले चुनाव तक हम जनता को तैयार कर सकें तो उसका प्रभाव आज के राज्य चलाने वाले हमारे नेताओं पर और राजकर्मचारियों पर पड़े बिना रहे नहीं।

साथ-साथ अगर हिन्दी को हम सर्वमान्य और सर्व समन्वयकारी शैली प्रदान कर सकें तो और भी अच्छा। इसके लिये बहुमत के जोरों काम करने की वृत्ति न रहे। जो स्वदेशवासी हिन्दी से दूर गये हैं उन का अनुनय कर के उन्हें नजदीक लाने की कोशिशें होनी चाहिये। यही होगी हमारी तपस्या/तपस्या के बिना सिद्धि नहीं है।

मुझे विश्वास है कि हम हिन्दी के प्रेमी नया संकल्प करके हिन्दी की लोकप्रियता सेवा द्वारा बढ़ाने की कोशिश करेंगे तो श्री टण्डनजी और गांधीजी दोनों की आत्मा को प्रसन्नता होगी और हमें उनके आशीर्वाद मिलेंगे।

१५-७-६२

११-३

टंडनजी का जीवन-कार्य

स्वराज्य के जमाने में जनता ने अपने उत्तमोत्तम सेवकों को कुछ-न-कुछ इल्काब दिया। गांधीजी को पहले 'कर्मवीर' कहते थे। बाद में 'महात्माजी' कहने लगे। तिलकजी को कहने लगे 'लोकमान्य'। श्रीवल्लभभाई पटेल को इल्काब मिला 'सरदार' का और भारत सेवक अंग्रेज श्री अंडरूज़ को लोग 'दीनबन्धु' के नाम से पहचानने लगे।

इसी तरह बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को हम 'राजर्षि' के नाम से पहचानते आये हैं। 'ब्रह्मर्षि', 'विप्रर्षि', 'राजर्षि', 'महर्षि' ये सब पुराने नाम हैं। ब्रह्मसमाज के नेता और कवीन्द्र के पिता देवेन्द्रनाथ को बंगाल ने 'महर्षि' का इल्काब दिया। मैं मानता हूँ कि ब्रह्मर्षि और राजर्षि इन नामों के पीछे जाति-व्यवस्था की या वर्ण-व्यवस्था की मान्यता है। क्योंकि श्री जमनालाल बजाज को वैश्यर्षि कहने का प्रस्ताव पेश हुआ था। अगर हम वर्ण-व्यवस्था को चलाना चाहते तो टंडनजी को राजर्षि कह सकते थे। उनकी राजनैतिक दिलचस्पी, शक्ति परका उनका विश्वास और स्वराज्य की सेवा, सबके कारण राजर्षि पद के लिए वे योग्य थे ही। लेकिन वे जाति के ब्राह्मण नहीं थे। इसलिए उनको राजर्षि कहना, इस जमाने में अच्छा नहीं लगता। ब्राह्मण को ही पंडित कहने वाले हमारे देश में हम श्री सुन्दरलालजी को पंडित कहने लगे। यह अच्छी प्रगति है। राजविलास में रहते हुए अगर कोई राजा जनक के जैसी साधना बतावे तो उसे हम राजर्षि कह सकते हैं। टंडनजी के जीवन में हमने साधुता, संयम और तपस्विता देखी है। राजविलास का लेश भी हमने कभी नहीं देखा।

'भारतरत्न' टंडनजी ने भारत की अनेक तरह की सेवा की है। उन्होंने एक स्वदेशी बैंक चलाई थी। विधानसभा के स्पीकर अथवा नियंता रहे। लोक सेवक समाज के अध्यक्ष रहे। राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष भी चुने गये। लेकिन उनकी प्रधान सेवा तो हिन्दी की ही रही। हिन्दी के बारे में भी उनकी सेवा साहित्यिक नहीं, किन्तु राष्ट्रीय थी।

नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी सेवा का प्रारम्भ किया सही। किन्तु हिन्दी को राष्ट्रभाषा के स्थान पर आरूढ़ करने के विचार से हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। उर्दू का जब अधिक से अधिक बोलबाला था और अंग्रेजी अखिल भारतीय, सार्वजनिक सेवा-कार्य की वाहन बन चुकी थी, ऐसे समय पर, दोनों का एक साथ सामना करके हिन्दी को अखिल भारतीय स्थान देने वाला आन्दोलन सम्मेलन ने चलाया। और उसी को अनन्य भाव से अपनी सेवा अर्पण की टंडनजी ने।

गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के तौर पर हिन्दी का स्वीकार पूरे हृदय से किया इसलिए टंडनजी उनके प्रति आकर्षित हुए और गांधीजी ने भी उनकी निष्ठा की कदर करते हुए, उन्हीं की संस्था के द्वारा अपना प्रचार-कार्य शुरू किया और चलाया।

गांधीजी दो दफे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रहे और सम्मेलन ने 'वाचस्पति' की अपनी सर्वोच्च उपाधि गांधीजी को प्रदान करके देश की कृतज्ञता व्यक्त की।

हिन्दी प्रचार का भार जब गांधीजी ने मेरे सिर पर रखा, तब से टंडनजी का परिचय पाने का अहोभाग्य मुझे मिला। सम्मेलन-कार्य के लिए जब कभी मुझे प्रयाग जाना पड़ता, टंडनजी मुझे अपने घर पर ही ठहराते। परिचय काफी बढ़ने पर वे मुझे अपने घर के अन्दर अपने साथ ही, भोजन के लिए बिठाने लगे। हिन्दी प्रचार का एक भी पहलू ऐसा नहीं था कि जिसकी चर्चा हमने नहीं की हो। गांधीजी के साथ जब

कभी उनका मतभेद हुआ, हम गम्भीरता से और आत्मीयता से उसकी भी चर्चा करते थे। मेरी हिन्दी की शैली उन्हें मान्य थी। मेरे भाषा-दोष वे प्रेम से सुधारते थे और मुझे उसका रहस्य समझाते भी थे। आहार-सुधार के बारे में भी उनके साथ मेरा विचार-साम्य था हालांकि उनके जितना मैं आग्रही नहीं था।

मेरे मन पर जिस चीज का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, वह थी टंडन-जी के जीवन की निर्मलता। उनके पास अन्तर्बाह्य ऐसा भेद था ही नहीं। अपने विचार व्यक्त करते उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। और कांग्रेसी लोगों के दोष जाहिर करते उन्होंने कभी सौम्य भाषा का आश्रय नहीं लिया। चन्द लोगों के बारे में बोलते वे कहते थे "ये सब चोर हैं।" इतने कड़े शब्ब इस्तेमाल करते हुए भी उनके मन में या आवाज में कभी कटुता नहीं दीख पड़ती। सार्वजनिक जीवन को शुद्ध बनाने की उनकी कोशिश का जिक्र स्वराज्य के इतिहास में जरूर किया जायेगा।

दो बातों में टंडनजी की सहायता के लिए मैं हमेशा कृतज्ञ रहूँगा। इन्दौर के दूसरे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के समय नागरी लिपि-सुधार समिति की नियुक्ति हुई। इस कार्य में सामान्य तौर पर युक्त प्रान्त का तीव्र विरोध था। तो भी, लिपि-सुधार का महत्त्व समझकर, टंडनजी ने मुझे हमेशा प्रोत्साहन दिया और हर तरह की सहायता की। श्री बाबूराम सक्सेना आदि सम्मेलन के पदाधिकारियों की भी काफी मदद मिली। विरोधी पक्ष ने बनारस के सम्मेलन में, एक विचित्र समझौता पेश किया। श्री टंडनजी का ही प्रभाव था कि उस समझौते का हम लोगों ने स्वीकार किया।

नागरी लिपि में कम से कम और अत्यन्त आवश्यक सुधार हमने पेश किये थे और सम्मेलन की स्थायी समिति में बार-बार, ये सुधार प्रचण्ड बहुमत से स्वीकृत भी हुए थे। आखिरकार, बनारस के विराट सम्मेलन की स्वीकृति पानी थी। बहुमत तो हम पा चुके थे। लेकिन बनारस के रूढिवादी लोग उसे स्वीकारने के लिए राजी नहीं थे इस-

लिए उन्होंने सुझाया कि लिपि सुधार का प्रचार युक्त प्रान्त को छोड़कर बाकी के भारत में किया जाय। टंडनजी ने सलाह दी कि इस बात को मान्य करने में ही बुद्धिमानी है। हमने उनकी बात मान ली और लिपि-सुधार में काफी प्रगति भी की।

(आगे जाकर श्री विनोबा ने लिपि-सुधार का सवाल अपने हाथ में लिया। वे हमसे बहुत आगे बढ़े और बाद में उन्होंने सारा प्रश्न छोड़ दिया। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर युक्त प्रान्त ने लखनऊ में उन सुधार को भी तिलाँजलि दे दी—जो कम से कम ओर अत्यन्त जरूरी थे। महात्माजी की ओर से जिसे जबरदस्त प्रोत्साहन मिला था वह जरूरी सुधार भी इस तरह टूट गया। और नागरी लिपि का पक्ष कमजोर हुआ।)

टंडनजी ने मुझे दूसरी सहायता दी थी गोवा के बारे में। जब वे नासिक में कांग्रेस के प्रमुख बने तब मैंने उनसे कहा कि गोवा के लोग कब के स्वतन्त्र होने की कोशिशें कर रहे हैं। उनकी आवाज अभी तक राष्ट्रीय सभा तक नहीं पहुँची है। गोवा नेशनल कांग्रेस के अध्यक्ष नासिक आये हुए हैं। इनको कांग्रेस के अधिवेशन में बोलने का मौका अगर आप दे दें तो गोवा के लोगों को बल मिलेगा। टंडनजी ने मेरी बात मानकर श्री डिसिल्वा को अच्छा मौका दिया। तब से गोवा के बारे में कांग्रेस की सहानुभूति जाग्रत हुई और कांग्रेस ने यथा समय, अपने प्रस्तावों के द्वारा गोवा की आजादी का भार अपने सिर पर ले लिया।

मतभेद के कारण गांधीजी सम्मेलन से पृथक् हुए। उससे पहले मैं भी पृथक् हुआ। तो भी टंडनजी के साथ मेरा सम्बन्ध पूरा-पूरा आत्मीयता का ही रहा। और उन्होंने कई बार मुझे हिन्दी प्रचार का भार फिर से संभालने के लिए कहा।

मैं उनसे कहता था कि चन्द मुसलमान आपको सम्प्रदायवादी समझते हैं। यह उनकी गलती है। आपकी भूमिका और हिन्दू सभा की भूमिका एक नहीं है। इतना समझने की सूक्ष्मता उनमें नहीं है। आपकी

राष्ट्रीयता कांग्रेस की ही राष्ट्रीयता है। फर्क इतना है कि यद्यपि आप हिन्दू-धर्म के सम्प्रदायवादी नहीं हैं आप हिन्दू संस्कृति के भक्त होकर सांस्कृतिक स्वराज में हिन्दू संस्कृति की प्रधानता चाहते हैं। वे कहते थे कि "बात सही है। मुसलमान अपने धर्म का जरूर पालन करें किन्तु सबकी सम्मिलित भारतीय संस्कृति का पूरी निष्ठा से स्वीकार करें।" मैं कहता था "हम लोग भी वही चाहते हैं। लेकिन उसका आग्रह रखने से यह बात सिद्ध नहीं होगी। हमारे निराग्रही बनने से ही मुसलमान नजदीक आयेंगे। और फिर भारत की संगम संस्कृति आप-ही-आप अपना काम करेगी। हमारा हिन्दुस्तानी प्रचार राष्ट्रभाषा में उर्दू के प्रभाव को मान्यता देगा सही, किन्तु ऐतिहासिक शक्तियां अपना प्रभाव डालेंगी और हमारी हिन्दुस्तानी हिन्दी से दूर नहीं जायेगी। भारत के मुसलमान 'ईसाई' सभी विभागों को, सब प्रान्तों के लोगों को हिन्दुस्तान की छत्रछाया के नीचे हम लावें। इसके लिए जो भी कीमत देनी पड़े हम देवें और आस्तिकता-पूर्वक विश्वास रखें कि भारतीय संस्कृति अपना काम करेगी और समन्वय का विजय होगा"

पिछले दस-पन्द्रह बरस का इतिहास बताता है कि गांधीजी की नीति का स्वीकार नहीं हुआ। गांधीजी हार गये। देश का बंटवारा होने से उर्दू की शक्ति बढ़ी नहीं। लेकिन साथ-ही-साथ हिन्दी भी कमजोर हुई। आज हिन्दी को पोषण तो पूरा-पूरा मिल रहा हैं, लेकिन जो स्थान गांधीजी उसे दे सके थे, ओर जो हिन्दुस्तानी के नाम से सिद्ध होकर भारत की भावनात्मक एकता को मजबूत करता—वह सारा कमजोर पड़ गया। इस सारी परिस्थिति से लाभ उठाया अंग्रेजीवालों ने।

गांधीजी के पुण्य प्रभाव से राजाजी जैसे समर्थ पुरुष दक्षिण में हिन्दी का प्रचार अपनी सारी शक्ति लगाकर करते थे। वे ही आज अंग्रेजी के अध्वर्यु बने हैं। बंगाल में हिन्दी को मान्यता मिली थी वह अब नहीं रही। और आज अंग्रेजी ने इतना जोर पकड़ा है कि न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी किन्तु सारी प्रान्तीय भाषाएं भी खतरे में आ गई हैं। हमारे

राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन का कब्जा अंग्रेजी ने ले लिया है। इसमें हम भारत सरकार को दोष नहीं दे सकते। जब से हिन्दी वालों ने गाँधीजी की हिन्दुस्तानी का विरोध किया तब से हिन्दी की अखिल भारतीय भावनात्मक एकता उन्होंने खोई। आज हमारे बीच न हैं गांधीजी और न हैं टंडनजी। मेरा विश्वास है कि भारतीय भाषाओं के सिर पर जो संकट फैला हुआ है उसे देखकर टंडनजी, गाँधीजी की नीति का स्वीकार करते. और गांधीजी के सहयोग से देश की राजनैतिक और सांस्कृतिक समस्या हल करते; क्योंकि टंडनजी में साम्प्रदायिकता तो थी ही नहीं। अब तो, जिन लोगों ने टंडनजी से प्रेरणा पायी और गांधीजी से जिन्हें बल मिला वे सब अगर एक हो जाएँ तभी आजाद भारत सांस्कृतिक समन्वय के बल पर देशी भाषाओं को भारत के सिंहासन पर बिठा सकेगा।

१-६-६२

१२

अमरकीर्ति समन्वय-कुशल शास्त्रीजी

भारतरत्न श्री लालबहादुर शास्त्री भारत की और मानवता की उत्तम सेवा करके अमर हो गये ! गांधीजी और जवाहरलालजी की परम्परा जैसी की वैसी उज्जवल रखने में और दुनिया में भारत की प्रतिष्ठा कायम रखने में उन्हें जो सफलता मिली उसके कारण राष्ट्र उनके प्रति कृतज्ञ रहेगा ही। और दुनिया का इतिहास भी गांधी-नेहरू के साथ शास्त्री का नाम भी अवश्यमेव जोड़ देगा।

जवाहरलालजी के बाद जब शास्त्रीजी का सर्वानुमति से चुनाव हुआ तब कई लोगों ने कहा, "जिसके नामका तनिक भी विरोध न हो सके ऐसे तो लालबहादुर ही हैं। लेकिन ये छोटे वामनमूर्ति भारत की जटिल और चिन्ताग्रस्त परिस्थिति को कैसे सँभालेंगे इसका अन्दाज हो नहीं सकता।" लालबहादुरजी अपनी पढ़ाई पूरी करने के पहले भी राष्ट्र सेवा में जुट गये थे। बचपन से कठिनाइयों का सामना उनको करना पड़ा तो भी उन्होंने अपने दिल को खट्टा होने नहीं दिया। जहाँ भी कठिनाई उत्पन्न हुई लालबहादुर शास्त्री दोनों पक्षों को संभालकर बीच का रास्ता निकालते ही थे। इसीलिये शुरू से लोग उन्हें 'समझौता-कुशल' के रूप में ही पहचानते थे। जो भी सेवा सामने आई कुशलता-पूर्वक और परिश्रमपूर्वक करते गये। प्रतिष्ठा और अधिकार के पीछे वे कभी नहीं पड़े। लेकिन ऐसे परिश्रमी निष्ठावान राष्ट्रसेवक की सेवा से देश अपने को वंचित कैसे रख सकता था ? एक के पीछे एक अधिकाधिक

महत्त्व के काम उनके सामने आते गये और उत्तरदायित्व जैसे बढ़ता गया, शास्त्रीजी अपनी योग्यता में चढ़ते ही गये।

जब मैंने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के क्षेत्र में प्रवेश किया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ मेरा सम्बन्ध बढ़ा तब मुझे बराबर इलाहाबाद प्रयाग जाना पड़ता था। और मैं अक्सर श्रद्धेय टंडनजी के वहाँ ठहरता था। लालबहादुरजी को वहाँ मैंने कई बार देखा था। लेकिन हमारी कभी विशेष बातें नहीं हुईं। युक्त प्रदेश के सार्वजनिक जीवन से और स्वराज्य के आंदोलन से यह वामनमूर्ति पूरी पूरी ओतप्रोत थी और इनके बिना लोगों का काम नहीं चलता था। मुझे इतना ही याद है कि एक दफे मैंने उनसे कहा था, "गंगा और यमुना" भिन्न रंगी स्रोतों के संगम के नजदीक आप रहते हैं; आप में समन्वय की कुशलता होनी ही चाहिये।" मैंने जो कहा, लालबहादुरजी के काम को पहचानकर नहीं, किन्तु प्रयाग-राज्य के माहात्म्य को ध्यान में लाकर कहा था। आज जब शास्त्रीजी के जीवन का सम्पूर्ण चित्र मन में लाता हूँ तब विश्वास होता है कि उस दिन मैंने जो यूँही कहा था वह शास्त्रीजी के लिये पूरा-पूरा लागू होता है। मेरा चिन्तन कहता है कि समन्वय-कुशल वे ही होते हैं जिनमें अहंकार नहीं होता और जो सिद्धान्त के कैफ को भी दूर रख सकते हैं। याने जो लोग अहंकार को छोड़कर, स्वार्थ और एकांगिता को छोड़कर समग्र जीवन के उपासक होते हैं।

जब शास्त्रीजी राज्यसभा के सदस्य थे तब उन्हीं के मुँहसे मैंने सुना था: (किसी ने उनके नरम स्वभाव की टिप्पणी की होगी तब जवाब में उन्होंने कहा था।)"मैं वाणी में नरम हूँ इसलिये आप यह न समझें कि राष्ट्रकार्य चलाने में और राष्ट्रनीति का अमल करने में मैं ढीला हूँ। मैं दृढ़ता के साथ काम भी कर सकता हूँ और लोगों से काम ले भी सकता हूँ।"

राज्यसभा के किसी सदस्य के छेड़ने पर उन्होंने अपनी ओर से जो सफाई दी वही उनका सच्चा चरित्र-चित्रण था।

राष्ट्र नेता के साथ काम करते कैसी निष्ठा से सहयोग देना चाहिये

इसका आदर्श शास्त्रीजी ने देश के सामने रखा। जवाहरलालजी को सहायता करने में और उन्हें निश्चिन्त बनाने में शास्त्रीजी ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। वे कम बोलते थे। जिद नहीं करते थे और हर एक के दृष्टि-बिन्दु के प्रति सहानुभूति रखते थे। इसलिये सार्वजनिक जीवन में उनकी किसी से शत्रुता नहीं हुई। यही कारण था कि राष्ट्र ने उन्हीं को जवाहरलालजी की गद्दी पर बिठाया।

जब से शास्त्रीजी भारत के प्रधानमन्त्री बने तब से उनके सामने कठिनाइयों का तांता लगा था। जवाहरलालजी की नीति निष्ठापूर्वक उन्होंने चलाई। लेकिन मिजाज खोने का जवाहरलालजी का स्वभाव उन्होंने नहीं अपनाया। जवाहरलालजी मिजाज खोने जितने तेज-मिजाज थे। लेकिन राष्ट्रनीति चलाते उनकी उदारता उन्हें नरम भी बनाती थी। जवाहरलालजी में यह जो कमी थी उसका अनुकरण शास्त्रीजी ने नहीं किया।

जब पाकिस्तान ने प्रथम कच्छ के रण में और बाद में काश्मीर के प्रदेश में आक्रमण शुरू किया तब अय्यूबखाँ ने ख्वाब में भी नहीं सोचा होगा कि शास्त्रीजी उन्हें सबक सिखाने के लिये अपनी फौजें लाहौर और रावलपिण्डी तक भेज देंगे। लड़ना कोई बच्चों का खेल नहीं है। जब पाकिस्तान ने आक्रमण करने की ठानी तब शास्त्रीजी ने भी उस रणमत्त सेनापति को सबक सिखाने की ठानी।

राष्ट्रसंघ अगर बीच में नहीं पड़ता तो पाकिस्तान की फौज की बुरी हालत हो जाती। लेकिन शास्त्रीजी हृदय से शान्तिवादी थे और कभी भी पाकिस्तान के दुश्मन नहीं थे। राष्ट्रसंघ की बात उन्होंने तुरन्त मान ली और पूरी विजय हाथ में आने की तैयारी थी फिर भी युद्ध-विराम उन्होंने कुबूल किया। उसके बाद पाकिस्तान ने बन्दरघुड़ की दिखाने की अपनी नीति बराबर चलाई। लेकिन उन्होंने देखा कि स्थितप्रज्ञ शास्त्री न नरम होते हैं, न गरम। पाकिस्तान ने कुछ भी नहीं पाया, उसने बहुत कुछ खोया, लेकिन उसे उसकी कुछ परवाह नहीं थी।

ताशकन्द प्रकरण में भी शास्त्रीजी ने अपनी शुद्ध भूमिका शुरू से स्पष्ट की थी। भारत का पक्ष न्याय का है इतना विश्वास सब राष्ट्रों को हो गया था। अब अपने-अपने देश की नीति कैसी चलानी इसका निर्णय तो उस देश के नेता अपने-अपने स्वार्थ के अनुसार करते रहेंगे। यह बात अलग है।

रशिया की नीति भी हम समझ सकते हैं। आत्मरक्षा के लिये वहाँ के नेताओं ने प्रारम्भ में कैसी भी नीति चलाई हो, आत्मशक्ति का अनुभव और विश्वास होते ही रशिया ने दुनिया के साथ दोस्ती रखने की नीति चलाई है। शस्त्रबल पर उसका पूरा विश्वास है। लेकिन रशिया जानता है कि तत्त्व प्रचार के लिये शस्त्रबल की आवश्यकता नहीं है।

चीन जैसे पड़ोसी राष्ट्र की रशिया ने छूटे हाथ मदद की। चीन में प्रथम बादशाह का राज्य था। उसकी नीति सड़ी हुई थी। प्रजा ने बार-बार बलवा किया। लेकिन हर दफे जनता को हारना पड़ा। ऐसी स्थिति में दुनिया की आठ सत्ताओं ने इस विशालकाय साम्राज्य को जीते-जी काटकर खाने का मनसूबा किया। जंगल का कानून ही है कि जब हाथी के जैसा कोई बड़ा जानवर भी जरा-जर्जरित होकर मरने पड़ता है तब लोमड़ी, गीध जैसे प्राणी उसके जीतेजी उसे काट खाने को तैयार हो जाते हैं। कौए भी उनकी आँख पर अपनी चोंच आजमाते हैं। चीन की ऐसी ही स्थिति थी। च्यांङ्काइशेक ने अपने राष्ट्र को बचाने की भरसक कोशिश की उस समय साम्यवादी चीन के युवक नेता च्यांङ्काइशेक की कदर करते थे। शुरू में उनकी मदद भी की। लेकिन जब देखा कि च्यांङ्काइशेक के हाथों गरीब प्रजा सिर ऊँचा नहीं कर सकेगी तब उन्होंने साम्यवादी सरकार की स्थापना की। उस समय रशिया ने उदारता से चीन की जितनी मदद की उतनी मदद दूसरा कोई राष्ट्र नहीं कर सकता था। चीन और रशिया के बीच सरहद के सवाल जब-जब उठे, रशिया ने समझौते का तरीका चलाया। लेकिन चीन में साम्राज्यवाद घुस गया। चीन की लोक संख्या अपरम्पार है।

साम्राज्य विस्तार के लिये करोड़ों लोगों को बलीदान में खतम करने की उसकी तैयारी है। संकट के समय मदद करने वाले रशिया की भी मुरव्वत साम्राज्यवादी चीन ने नहीं रखी। इस कलिकाल में क्या नहीं हो सकता ? चीन की और पाकिस्तान की भी दोस्ती हो गई !

अब इस सारे वर्तमान इतिहास को दोहराने की आवश्यकता नहीं। रशिया ने भारत और पाकिस्तान के बीच समझौता कराने की जो कोशिशें कीं वह सचमुच सराहने लायक थीं।

शास्त्रीजी ने अमेरिका के साथ बिलकुल बिगड़ने नहीं दिया। लेकिन जहाँ अमरीकी नीति उन्हें पसन्द नहीं आयी, मानवता के हित के लिए उन्होंने अपना अभिप्राय साफ-साफ जाहिर किया। उस वक्त भारत के स्वार्थ का विचार करके खामोश रहना आसान था। लेनिक शास्त्रीजी ने संकुचित ख्याल नहीं रखा। रशिया के प्रयत्न की कदर करके वे ताशकन्द जाने के लिये तैयार हुए। रशिया ने भी अपनी सन्धिकारी नीति की पराकाष्ठा की और भारत और पाकिस्तान के बीच अच्छा-सा समझौता कराया।

अब देखना है कि मानव जाति का इतिहास कौन से नये पन्ने खोलता है ! भारत की दृढ़ता और भारत की शांतिनिष्ठा शास्त्रीजी के द्वारा पूरी-पूरी प्रगट हुई। रशिया और अमेरिका इन दिनों परस्पर विरोधी राष्ट्रों के नेताओं से शास्त्रीजी साधुवाद हासिल कर सके इससे बड़ी धन्यता कौन-सी हो सकती है ?

भारत की अन्दरूनी राज्य नीति में भी उन्होंने सबको संभालते हुए बताया की राष्ट्र का काम राष्ट्र की समग्र शक्ति से चलेगा। सब व्यक्तियों की कदर करते हुए उन्होंने बताया कि किसी भी व्यक्ति की सेवा के बिना राष्ट्र का काम रुकने वाला नहीं है। भारत की जनता जिस किसी के हाथ में अधिकार सौंपेगी उसे बुद्धिबल और हृदयबल देगी ही। शास्त्रीजी के बाद ऐसी श्रद्धा और विश्वास के बल पर भारत का राज्य चलेगा।

१ फरवरी, १९६६

: २ :

श्री लालबहादुर शास्त्री सचमुच भारत-रत्न थे, क्योंकि भारतीय संस्कृति के वे अच्छे से प्रतिनिधि थे। आजकल हम वर्ण और जाति को अच्छे नहीं मानते, जातियाँ तोड़ना चाहते हैं। लालबहादुरजी भी जातियों का उच्छेद ही चाहते थे। तो भी कहना पड़ता है कि उत्तर भारत में कायस्थ जाति ने जो सद्‌गुण और सांस्कृतिक खूबियां कमाई हैं, उसके ये अच्छे से अच्छे प्रतिनिधि थे। कायस्थ यानी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय।

बंगभंग बाद देश में जो स्वराज्य का, स्वदेशी का और स्वाभिमान का राजनैतिक और सांस्कृतिक जागरण हुआ, उसी ने लालबहादुर शास्त्रीजी के व्यक्तित्व की नींव डाली। बनारस की राष्ट्रीय विद्यापीठ के स्नातक होने से उन्हें शास्त्री की पदवी मिली। अपना कायस्थ कुलनाम श्रीवास्तव छोड़कर उन्होंने शास्त्री के नाम से अपने को पहचानवाना पसंद किया।

जब मैंने राष्ट्रभाषा हिंदी का भारत भर में प्रचार करने का बीड़ा उठाया तब मुझे कई बार राजर्षि टंडनजी से मिलने, अलाहाबाद जाना पड़ता था। वहाँ मैंने लालबहादुरजी की वामन-मूर्ति सबसे पहले देखी। मैं ताड़ सका कि यह छोटा-सा आदमी टंडनजी का भक्त है और स्थानिक काँग्रेस में उनकी ठीक-ठीक चलती है। हमारा परिचय घनिष्ठ न हो सका, लेकिन इतना तो मेरे ध्यान में आया कि काँग्रेस के बड़े बड़े नेताओं को संभालने की कुशलता इस नवयुवक में है। लालबहादुर उन दिनों हिन्दी के कट्टर भक्त थे। उन्होंने कभी हमें अनुमान करने का मौका नहीं दिया कि यह कायस्थ उर्दू का रसिया और माहिर भी है।

बहुधर्मी, बहुभाषी, बहुवंशी हमारे देश में विविधता इतनी है कि सब के साथ काम लेने वालों को कदम-कदम पर समझौता करना ही पड़ता है। इस के कारण हमारे देश में दो वर्ग तैयार हुए। एक अवसर-

वादियों का, जो अपना उल्लू सीधा करने के लिये जब जैसा जरूरी हो वैसा जामा पहन लेते हैं और पगड़ी बदल देते हैं। जीवन में सफलता पाने पर भी समाज में ऐसे लोगों की सच्ची प्रतिष्ठा नहीं होती है।

दूसरा वर्ग उच्च चारित्र्यवाला, अपने जीवन सिद्धान्त का पक्का, त्यागी और राष्ट्रनिष्ठ, किंतु समन्वयवादी है। वह जानता है कि इस देश का अगर भला करना है और उच्च मानवता की सेवा करनी है तो हर एक पक्ष में, हर एक दृष्टि में जो भलाई और खूबी है उसे पहचान कर सब को साथ लाने के लिये बीच का रास्ता निकालना ही चाहिये और उच्च कोटि का समझौता यानी समन्वय मंजूर करना ही चाहिये। लालबहादुर शास्त्री इस दूसरे वर्ग के सफल प्रतिनिधि थे। लेकिन इसमें आश्चर्य ही क्या ? जब वे विद्यार्थी थे, हमारे जमाने के महान दार्शनिक सर्व धर्म समन्वयवादी बाबू भगवानदास के वे शिष्य थे। कांग्रेस सेवक के तौर पर उन्हें जवाहरलालजी को और टंडनजी को संभालना पड़ता था। स्वराज्य की नेतात्रयी में जिनका नाम प्रथम आता है ऐसे लाला लाजपतराय के वे अनुयायी बने और बाद में उनकी पीपल्स सोसायटी के अध्यक्ष भी।

अपने सिद्धान्त और राष्ट्रहित को तनिक भी क्षति पहुँचाये बिना समन्वय वृत्ति से बीच का रास्ता निकालने की सबसे कठिन कला उन्होंने अपनी की थी। काश्मीर का मामला हो या दक्षिण भारत हिन्दी का पेचीदा सवाल हो, मिजाज खोये बिना, बीच का रास्ता ढूंढ़ निकालना और दृढ़ता से उस रास्ते चलना लालबहादुर का ही काम था।

भारत का प्रधानमंत्री-पद केवल डेढ़ साल ही संभाल्ने का उन्हें मौका मिला। लेकिन इतने अल्पकाल में उन्होंने बताया कि वे, समय आने पर, कुशलता से और दृढ़ता से लड़ भी सकते हैं, और भारत की शक्ति का परिचय दे सकते हैं, और उस के बाद तुरन्त आंतरराष्ट्रीय परिस्थिति के अनुसार, भारत की प्रतिष्ठा को तनिक भी धक्का पहुँचाये बिना, सन्धि भी कर सकते हैं।

इस पुण्य भूमि की भारतीय संस्कृति का यह समन्वयवादी वामन-मूर्ति नेता दुनिया के सब से बड़े दो राष्ट्रों के राजनीतिक नेताओं का एकसा आदर प्राप्त कर सका, यह लालबहादुर शास्त्री की राजनैतिक सिद्धि भारत के लिये गौरवास्पद है।

भले थोड़े ही समय के लिये चमककर लालबहादुर शास्त्री ने सिद्ध किया कि वे प्रथम श्रेणी के सितारे बन चुके थे। भारत माता अपने इस लाड़ले लड़के के लिये आँसू भी बहायेगी और उसकी स्मृति हृदय में प्रसन्नता से अंकित भी कर रखेगी।

१ मार्च १९६७

१२

सेवाकुशल दादासाहब मावलंकर

दादासाहब ने लोकसभा के प्रारंभ-काल में अध्यक्ष की हैसियत से ऐसा अच्छा काम किया कि आइंदा की जनता और अनेक पीढ़ियाँ उनको भारतीय लोकतंत्र की विशुद्ध परम्परा के आद्य-संस्थापक के रूप में याद करेंगी। आज सारा देश उन्हें The founder of Indian Parliamentary Tradition की उपाधि दे रहा है।

अंग्रेजों से लड़कर जो आज़ादी हमने हासिल की, उसकी जड़ें मज-बूत करने के लिये और बहुधर्मी, बहुपक्षी भारतीय जनता में राजनैतिक स्वतंत्रता सुरक्षित बनाने के लिये अंग्रेजों से हमें क्या लेना है, और क्या नहीं लेना, इसका सूक्ष्म विवेक दादासाहब के पास था। स्वराज्य पाते ही भारत के अनेक सुपुत्रों ने उच्च अधिकार के स्थान सुशोभित किये। उस समय दादासाहब को जो भी स्थान दिया जाता, उसे वे बड़ी योग्यता के साथ निभाते। उस समय सरदार वल्लभभाई ने कहा था कि हर एक स्थान के लिए हमारे पास एक से अधिक व्यक्ति मौजूद हैं। लेकिन लोकसभा के अध्यक्ष के लिये दादासाहब मावलंकर के ऐसा दूसरा आदमी हमारे पास नहीं है; सब राजकीय दलों के सब सदस्यों का विश्वास जिन पर एक-सा है ऐसे एक दादासाहब ही हमारे पास हैं।

बंबई की विधान सभा के अध्यक्ष के तौर पर उन्होंने जो काम किया था उसे देखकर सब लोगों ने निश्चय-सा कर लिया था कि भारत की प्रथम लोकसभा चलाने का और लोकतंत्र की मजबूत नींव डालने का काम उन्हीं का है।

जब महात्मा गांधी ने देश-कार्य की और राष्ट्रीय महासभा की बागडोर हाथ में ली तभी से दादासाहब की सार्वजनिक सेवा का मैं साक्षी हूँ। गुजरात का ऐसा एक भी सार्वजनिक काम नहीं था जिसमें लोगों ने दादासाहब को खींचा न हो। अकाल-निवारण का काम हो, संस्थाओं के विधान बनाने का हो, पैसे इकट्ठा करने का हो, पैसे संभाल कर उनका विनियोग करने का काम हो – दादासाहब के बिना काम आगे चलता ही नहीं था। सरदार वल्लभभाई और दादासाहब दोनों कंधे-से-कंधा मिलाकर हर काम में अपनी पूरी शक्ति लगाते थे। जब अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तब दादासाहब की दूर-दर्शिता और संगठन-कुशलता पूर्ण रूप से प्रगट हुई। अहमदाबाद के सब-के-सब उद्योगपति दादासाहब को अपना हितचिंतक और मित्र समझते थे। कई परिवारों को उन्होंने विषम परिस्थिति में असाधारण सहायता की है।

जब सहायता की बात सोचता हूँ तब वे दिन याद आते हैं जब कि दादासाहब जेल में बैठे-बैठे कई खूनियों, लुटेरों और अन्यान्य अप-राधियों को नेक सलाह देते थे, और बचाते भी थे। कईयों को उन्होंने फांसी से बचाया, इतना ही नहीं लेकिन उनके हृदय में पहुँचकर, उनके जीवन में ऐसा परिवर्तन किया कि वे नये ही आदमी बन गये।

और जो इस तरह बच नहीं पाये, उन्हें इहलोक छोड़कर परलोक में जाने के लिए उन्होंने ऐसा मानसिक और आध्यात्मिक संबल दिया कि वे बिलकुल शान्त होकर अपना चोला छोड़ सके।

कस्तूरबा स्मारक निधि और गांधी स्मारक निधि के संचालन में उनकी एकाग्रता और कार्य-कुशलता का परिचय सारे राष्ट्र को मिला। देश-भर की विविध प्रवृत्तियाँ चलाने वाले असंख्य कार्यकर्त्ताओं को पहचानना, उनकी कठिनाईयाँ दूर करना, गलतियों से उन्हें बचाना और हर कार्य के लिए अनुकूलता पैदा कर देना—यह सब दादासाहब का ही काम था। गुजरात विश्वविद्यालय (यूनिवर्सिटी) बनाने में सबसे अधिक परिश्रम दादासाहेब ने ही किया था। ब्रह्मचारी वाड़ी, गुजरात

विद्या सभा, रामानन्द कॉलेज अदि अनेक संस्थाओं को हर तरह का सिंचन दादासाहेब से ही मिलता था। दादासाहेब जितने महाराष्ट्री थे उतने ही गुजराती थे और उतने ही भारतीय थे।

चरित्र के इस उच्च आदर्श और सेवा की आध्यात्मिक वृत्ति दोनों की बुनियाद उनकी मातृ-भक्ति में पाई जाती है। उनकी मातृ-भक्ति ही मुझे सबसे अधिक आकर्षक लगती थी। मातृ भक्ति का ही विकास हुआ, और उसने देश-भक्ति का रूप लिया। मातृ-सेवा ने ही उन्हें जनता की सेवा के पाठ पढ़ाये। महात्मा गांधी का अनुयायित्व और सरदार वल्लभभाई की मैत्री दोनों दादासाहब के जीवन की विशेषताएँ थीं। ऐसा होते हुए भी दादासाहब ने अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व कभी खोया नहीं। यही कारण था कि उनके व्यक्तित्व का प्रभाव सब लोगों पर और सब कार्यों पर इतना गहरा पड़ सका।

सचमुच मनुष्य जीवन के जो विविध पहलू हैं, उन सबका यथा-प्रमाण विकास दादासाहब में पाया जाता है। उन्होंने हर तरह से धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थों को यथोचित सेवन किया और विश्वास होता है कि उन्होंने अपने को, इस तरह मोक्ष-यात्रा का अधिकारी बनाया। जैसा भाग्य दादासाहब को मिला वैसा कम लोगों को मिल सकता है। और उन्होंने हर समय अपने उस भाग्य के योग्य सिद्ध किया।

स्वराज के इतिहास में दादासाहब का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हो चुका है।

१४

सव्यसाची बालासाहब खेर

बालासाहब खेर सव्यसाची थे।

जो धनुर्धर दाहिने और बायें, दोनों हाथों से बाण चलाने में एक से कुशल होते हैं उन्हें सव्यसाची कहते हैं। योद्धा के लिये यह बड़ी उत्कर्ष की निशानी है।

स्वभाव से और विचारों से बालासाहब खेर माननीय गोखले के लिबरल पक्ष के थे। तो भी वे गाँधीजी के सत्याग्रह को समझ सके और हृदय से अपना सके।

सामाजिक क्षेत्र में वे सनातन पक्ष के नहीं, किन्तु सुधारक थे। तो भी तपस्या, साधना और यमनियम आदि की वे कदर कर सकते थे। साहित्य और विद्वत्ता के उपासक होते हुए भी वे सेवा-क्षेत्र में कूद पड़े।

पूरी लगन से रचनात्मक कार्य को अपनी निष्ठा देते हुए भी उन्होंने कुशल राजनीतिज्ञ और समर्थ राज्यकर्ता की तौर पर अपना परिचय दिया। दुनिया के छल-कपट को वे पहिचान सकते थे। लेकिन उन्होंने अपनी न्यायनिष्ठा और सज्जनता कभी नहीं छोड़ी और कर्म-कुशल होते हुए भी अधिकार के बारे में वे बिल्कुल अनासक्त रहे।

शिक्षालय में वे होशियार विद्यार्थी गिने जाते थे। बम्बई हाइकोर्ट के न्यायमूर्ति बीमन के सत्संग के कारण उनका साहित्य परिचय विशाल था। उन्होंने सोलिसिटर के तौर पर अच्छा नाम कमाया। सेवाकार्य करते जब उन्हें अनुभव हुआ कि जब तक देश आज़ाद न हो तब तक जनता की उन्नति नहीं होने की, तो उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया।

वहाँ भी वे गांधीजी के नहीं किन्तु स्वराज पक्ष में दाखिल हुए। उन्हें सरकारी विद्यालय, सरकारी न्याय-मन्दिर और सरकारी नोकरी के बहिष्कार का कार्य-क्रम पसंद नहीं था। लेकिन आगे जाकर उन्होंने गांधीजी के आदेश के अनुसार सन् १९३९ के राज्याधिकार से इस्तीफा दिया और सविनयभंग करके जेल गये।

फिर से जब उन्होंने बम्बई राज्य के प्रधान मंत्री का पद ग्रहण किया तब उन्होंने अपने हाथ में शिक्षा का कार्य ही लिया। मराठी उनकी जन्म भाषा थी। किन्तु बम्बई राज्य में चलने वाली गुजराती और कन्नड़—दोनों भाषा वे अच्छी तरह बोल सकते थे। भारत के सभी प्रान्तों में बम्बई का राज्य सबसे अच्छी तरह चल रहा था ऐसी कीर्ति उन्होंने हासिल की और सन् १९५० के चुनाव के बाद स्वेच्छा से प्रधान पद छोड़ दिया। भारत सरकार ने उन्हें विलायत में भारत के राजदूत बनाकर भेज दिया। यह काम उन्होंने बड़ी ही खूबी से, सफलता-पूर्वक किया।

बालासाहब जेल में थे तब उन्होंने उर्दू सीख ली थी। वे हमारी 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के और 'हिन्दुस्तानी कलचर सोसायटी' के सदस्य थे। देश का बंटवारा होने के बाद उनका विचार हुआ कि अब हम नागरी के साथ उर्दू लिपि लाजमी नहीं कर सकते।

राष्ट्र-भाषा के प्रचार का महत्व समझ कर उन्होंने बम्बई सरकार के द्वारा एक हिन्दुस्तानी बोर्ड कायम किया था। इतना ही नहीं किन्तु मराठी और गुजराती दोनों भाषाओं की नागरी लिपि में जरूरी सुधार करके इन दो लिपियों को जहाँ तक हो सके नजदीक लाने का प्रयास भी उन्होंने एक कमेटी के जरिये किया था। इस कमेटी की रिपोर्ट मराठी और गुजराती में प्रकाशित होने के कारण उसकी ओर बम्बई राज्य के बाहर बाकी के देश का ध्यान नहीं जा सका।

समूचे भारत के लिए सरकारी जबान तय करने के कमीशन के वे अध्यक्ष थे।

हरिजन सेवक संघ, आदिम जाति सेवक संघ, श्रद्धानन्द अनाथ महिला आश्रम, गरीबों को कानूनी मदद मुफ्त देने वाली संस्था—आदि अनेक पारमार्थिक संस्थाओं के साथ उनका घनिष्ठ संबन्ध था। तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ के भी वे प्रमुख रह चुके थे।

ऐसी सब रचनात्मक प्रवृत्तिओं के पोषण के लिए स्थापित हुए 'गांधी स्मारक निधि' का अध्यक्ष पद श्री मावलंकर के बाद उन्हें दिया गया वह बिलकुल ही उचित था। अगर आयु और आरोग्य की मदद होती तो इस क्षेत्र में भी उन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त की होती।

अभी-अभी जब मैं उन्हें बम्बई में मिला था तब बातों के सिलसिले में उन्होने कहा 'जिस तरह आपने अपनी पैतृक जायदाद का मेरे हाथों हरिजन सेवा के लिए ट्रस्ट बनाया था वैसा मैंने भी अपनी जायदाद का ट्रस्ट बना दिया है। अब अगर मुझे बम्बई से दिल्ली या और कहीं जाना होता है तो मुझे अपने लड़कों से पैसे माँगना पड़ता है। गांधी स्मारक निधि का पैसा तो उसके नियम के मुताबिक ही खर्च करना चाहिये। इसलिए मैं मुसाफिरी भी ज्यादा नहीं करता हूँ।"

बम्बई में जहाँ वे गरीब जनता की सेवा का लगन से काम करते थे उस स्थान का नाम लोगों ने 'खेरवाड़ी' रखा। जब कभी मैं उनसे मिलने गया हूँ खेरवाड़ी के अपने कार्य के बारे में वे विस्तार से कहते थे। बम्बई का राज्य चलाना और खेरवाड़ी का काम चलाना उनके मन दोनों एक से महत्त्व के थे। अगर कोई फर्क था तो वे मानते थे कि खेरवाड़ी का उनका काम ज्यादा महत्व का है। खेरवाड़ी में रहने वाले गरीब लोगों के सब दोषों के प्रति उनके मन में क्षमावृत्ति ही थी।

भारत के स्वराज युग के जो तेजस्वी, सात्विक सत्पुरुष हो चुके हैं उनमें बालासाहब खेर ने गौरव का स्थान पाया है।

१२ मार्च, १९५७

१५

सात्विक सेवामूर्ति गोपबाबू

उड़ीसा के सर्वमान्य नेता श्री गोपबन्धु दास ने जो स्थान खाली किया था वह श्री गोपबन्धु चौधरी ने उनके पश्चात् बड़ी ही योग्यता के साथ सुशोभित किया। गोपबन्धु चौधरी जैसे सेवामूर्ति थे, वैसे सात्विकता की भी मूर्ति थे।

मुझे वह दिन याद है, जब सरकारी नौकरी छोड़कर गोपबाबू ने उसी स्थान पर अपना एक आश्रम खोला, जहाँ वे अधिकार चलाते थे। एक छोटी सी झोंपड़ी बनाकर वहाँ वे अपने परिवार के साथ रहने लगे। उड़ीसा का राज्य भार चलाने के लिए उन्हें कई दफे कहा गया; लेकिन उन्होंने बाहर रह कर सेवा करना ही पसंद किया।

जब गांधी सेवा संघ का वार्षिक अधिवेशन डेलांग में हुआ था तब भारत के सब गांधीवादी समुदाय ने गोपबाबू के व्यक्तित्व का परिचय पाया था।

किसी समय गांधीजी ने गोपबाबू को ही गांधी सेवा संघ का अध्यक्ष पद देने की सोची थी।

जब किसी समय महात्माजी उड़ीसा की यात्रा पूरी करके आश्रम में लौटे तब उन्हीं के मुँह से मैंने श्रीमती रमादेवी चौधरी की तारीफ सुनी। गाँधीजी ने कहा, भारत में इनी-गिनी ही स्त्रियाँ हैं जो रमादेवी की निष्ठा और कार्य-कुशलता का मुकाबला कर सकें।

नई तालीम के सिलसिले में जब कभी मैं उड़ीसा गया हूँ, गोपबाबू के पुत्र को और पुत्री को उस कार्य में तल्लीन होते मैंने देखा है।

जो सात्विकता और सेवापरायणता गोपबाबू ने अपने जीवन में बताई वही श्री कृष्णबाबू चौधरी भी बता रहे हैं। उनका अनुगुल का आश्रम देखकर और श्रीमती मालतीदेवी का कार्य देख कर मुझे खर-स्रोता नदी के नजदीक का गोपबाबू का बरिकटक आश्रम याद आये बिना नहीं रहता। जो नेता अपने समाज के चरित्र की पूँजी सबसे अधिक सँभालता है, उसी का असर समाज पर दीर्घ काल तक टिक सकता है।

१३ मई, १९५८

१६

राष्ट्रपुरुष जगजीवनराम

हमारे देश में उपेक्षित जातियों का सवाल अत्यन्त पुराना है। इस सवाल को हल करने की कोशिश प्राचीन काल से होती आयी है। विश्वामित्र और श्री रामचन्द्रजी के समय से कोशिशें होती आयी हैं। पंचतंत्र और कथासरित्-सागर जैसी कथाओं में भी भील आदि अनेक वन्य जातियों का जिक्र आता है। इन लोगों की ईश्वर-निष्ठा, भूमि-निष्ठा और स्वामी-निष्ठा उच्च कोटि की पायी गई है। संतों ने इनके बीच हमेशा काम किया है और इन जातियों में अच्छे-अच्छे संत भी तैयार हुए हैं। जहाँ-जहाँ, बलिदान के द्वारा भूमि-निष्ठा सिद्ध करने के अवसर पैदा हुए, वहाँ-वहाँ इन जातियों का गौरवयुक्त उल्लेख आया ही है।

इतना होते हुए भी ये सब जातियाँ देश के विराट समाज में पूरी-पूरी घुलमिल नहीं गई हैं। इनकी वन्य सस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से और उपेक्षा के कारण भी इनको हमेशा दूर ही रखा गया। सामाजिक वहमों (prejudices) के कारण इन जातियों के प्रति बहुत अन्याय हुआ है।

ऐसे अन्यायों का परिमार्जन करना और इन जातियों के विकास में विघ्नरूप जो कठिनाइयाँ हैं उन्हें दूर करना और इन्हें पूर्णतया अपनाना आज का युगकार्य है।

भारतीयों की सामाजिक कमजोरियों को बराबर और तुरन्त पहचानने वाले और उससे लाभ उठाने वाले अंग्रेजों ने हमें बताया कि सामाजिक अन्याय दूर करने का काम आहिस्ता-आहिस्ता नहीं हो

सकता। जलते घर की आग बुझाने का काम पचास वर्ष की योजना बनाकर हम नहीं कर सकते। वैष्णवों ने, बौद्धों ने और जैनों ने इन लोगों के बीच जो कार्य किया था वही दूसरे ढंग से और दूसरे उद्देश्य से इस्लाम ने और ईसाई धर्म ने भी कर देखा।

आज के युग में वही कार्य हम लोग सामाजिक, शैक्षणिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में कर रहे हैं।

संतों का काम सबसे अच्छा इसलिये गिना जाता है कि उनके प्रयत्न से इन उपेक्षित जातियों में श्रेष्ठ कोटि के संत पैदा हुए। हमारा इस युग का कार्य भी तभी अच्छा गिना जायेगा जब इन उपेक्षित जातियों में सारे देश का ख्याल करने वाले नेता तैयार होंगे। इतना ही नहीं किन्तु समस्त मानव जाति के कल्याण के लिये अपनी आयु अर्पण करेंगे।

आजकल उपेक्षित जातियों में दो तरह के नेता पैदा होते हैं। और मैं मानता हूँ कि दोनों के लिये योग्य कारण भी हैं। और दोनों की उपयोगिता भी है। लेकिन दोनों की कोटि भिन्न है।

जिस रूढ़ि के कारण और गलत सामाजिक आदर्श के कारण इन उपेक्षितों के प्रति अन्याय होता रहा, उस रूढ़ि के खिलाफ और उसके समर्थकों के खिलाफ लडने का काम न्यायनिष्ठ सुधारक सवर्णों का भी है और उपेक्षित जातियों के स्वाभाविक नेताओं का भी है। ऐसे लोग लड़ते-लड़ते इतने कडुवे बन जाते हैं कि मनुष्य जाति पर का उनका विश्वास ही नष्ट हो जाता है। "सवर्णों के साथ लड़ना चाहिये, उनको परास्त करना चाहिये, उनके हाथों न्याय मिलने की आशा कभी भी नहीं रखनी चाहिये। जहाँ जहाँ अधिकार हो, अपनी जाति का प्रतिनिधित्व होना ही चाहिये। किसी पर भी भरोसा रखना बेवकूफी है। दुनिया के सब लोग अपने स्वार्थ की ही बात सोचते हैं। हमें भी वैसा ही करना चाहिये। अपनी जाति का संगठन करके और जातियों से लड़ते रहना, कहीं भी उदारता नहीं दिखाना और हमेशा जागरुक रहना यही हमारा कर्त्तव्य है।' यह हुई ऐसे लोगों की जीवन-दृष्टि।

दूसरे लोग होते हैं जो कहते हैं कि "रूढ़िवादी तंगदिल लोगों की स्वार्थवृत्ति हम जानते हैं। अपने अधिकार की रक्षा के लिये ऐसे लोगों से लड़ना चाहिये यह भी हमें मंजूर है। लेकिन हम जानते हैं कि सारा समाज ऐसे लोगों का बना हुआ नहीं है। सवर्णों में और सब वर्ग के लोगों में ऐसे भी लोग हैं जो हमारे प्रति न्याय करने के लिये औरों से लड़ते रहते हैं। उनमें तत्वनिष्ठा है, उदारता है, स्वार्थ को भूलकर दूसरों के हित के लिये वे हमेशा कोशिश करते रहते हैं। परस्पर अविश्वास के कारण राष्ट्रीय संगठन अगर कमजोर हुआ तो सबका नाश होने वाला है। इसलिये अपने और अपनी जाति के स्वार्थ का ख्याल रखकर अंधे बन जाना, अविश्वास का वायु-मण्डल बढ़ाना, और राष्ट्रीय एकता खतरे में डालना राष्ट्रद्रोह होगा। जिन लोगों ने उपेक्षितों की ओर देखा, उनकी सेवा के लिये अपना स्वार्थ छोड़ दिया और परोपकार में ही जीवन की सफलता पायी, ऐसे लोगों का ही अनुकरण हम क्यों न करें ? हमसे भी अधिक उपेक्षित और अधिक दुर्दैवी जनता जरूर कहीं न कहीं होगी, उनकी सेवा की हम क्यों न सोचें ? और भूतकाल के अन्याय का ध्यान धरते न बैठकर भविष्यकाल के लिये सर्व सेवा का आदर्श हम क्यों न ग्रहण करें ? सारे राष्ट्र के हित के लिये प्रयत्न करते अपना और अपनी जाति का जो कुछ भी स्वार्थ सध जाये उसीसे संतोष क्यों न मानें ? मनुष्य जाति के विकास का चिन्तन करने वाले भविष्य निष्ठ लोगों की जमात में हम क्यों न शरीक हो जाये ?" यह है दूसरे किस्म के लोगों की जीवन-दृष्टि।

मैंने देख लिया है कि माननीय श्री जगजीवनराम दूसरी कोटि के राष्ट्रपुरुष हैं। इसीलिये मेरे जैसे अनेक लोगों के मन में उनके प्रति आदर है। और इसलिये हम उनका अभिनंदन करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं ! ईश्वर इन्हें दीर्घ आयु और आरोग्य दे। और इनका अनुकरण करने वाले लोगों की संख्या बढ़नी देखने का परम संतोष इन्हें प्राप्त हो।

मई १९५३

१७

जन्मसिद्ध नेता-डॉ. चोइथराम गिदवाणी

डॉ० चोइथराम गिदवाणी का परिचय मेरे मित्रद्वय श्री जीवतराम कृपलानी और नारायण मलकानी के द्वारा हुआ। मेरी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति में राष्ट्रीय शिक्षण का महत्त्व महसूस किया हुआ देखकर उन दोनों ने मुझे हैद्राबाद के सिंधु ब्रह्मचर्य आश्रम में जाकर रहने का आग्रह किया। भारत के अन्यान्य विभागों का देखकर और वहाँ की जनता की सेवा कर के भारतीय एकता का अनुभव करने का उत्साह मुझ में था ही। इसलिये सन् १९१४ में शान्तिनिकेतन का निरीक्षण कर के मैं ब्रह्मदेश गया। वहाँ से सिंध जाना मैंने मंजूर किया।

वहाँ पर डॉ० चोइथराम और महाराज कालीदास ब्रह्मचर्य आश्रम की देखभाल करते थे। इनमें डॉ० चोइथराम सरकारी जेल में डॉक्टर का काम करते थे और बाकी का समय राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने में और आश्रम के लिये सहायता जुटाने में देते थे। चोइथराम और कालीदास—दोनों राष्ट्रभाषा हिन्दी के भक्त थे ही। और कृपलानी के कारण उन में स्वराज क्रान्ति का जोश भी काफी भरा हुआ था। जवान चोइथराम सिंधी के अच्छे से अच्छे वक्ता गिने जाते थे। शाह लतीफ जैसे सिंधी के सर्वोच्च कवि के रिसाले से उनका परिचय असाधारण था। हिंदी कविता भी उन्हें कंठ थी। लोगों में उत्साह पैदा करने के वक्ता के सब नखरे भी चोइथराम में मौजूद थे। देखते देखते वे सिंध के युवक वर्ग के नेता बन गये। तिजारत में प्रवीण, धनी सिंधवर्की

व्यापारियों में भी चोइथराम की प्रतिष्ठा और धाक काफी थी। जेल का काम पूरा कर के शाम को जब वे आश्रम में आते थे तब आश्रम में एक अच्छी गोष्ठी जम जाती थी। आश्रम के व्यवस्थापक श्री शर्माजी और दूसरे एक दो अध्यापक डॉ० चोइथराम की राह देखते ही रहते थे। मेरा काम विद्यार्थियों में अच्छे संस्कार डालने का और उन में क्रांतिकारी वृत्ति जगाने का था। देखते देखते श्री विष्णु शर्मा मौद्गल्य और श्री किशनचंद जैसे नवयुवक मेरे पास आने लगे। विष्णु शर्मा के बड़े भाई श्री लाकराम शर्मा भी आश्रम के हितचिंतकों में से थे। इन के पिता श्री मैनाराम महाराज की विद्वत्ता और साधुता की समाज पर अच्छी छाप थी। लेकिन वे कुछ पुराने विचार के थे। संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन के कारण मुझ में ब्राह्मणी संस्कृति के प्रति आदर तो था। लेकिन मैं ठहरा क्रान्तिकारी! पुरानी और नयी—दोनों पुश्तों के बीच मैं एक शृंखलारूप था।

डॉ० चोइथराम की और मेरी अच्छी बनती थी। वे भी पुराने लोगों को राजी रख सकते थे और नये लोगों को क्रान्ति की बातें समझा सकते थे।

हैदराबाद, साकर, शिकारपुर, वदीन, बुबक लारखाना आदि सिंध के प्रधान शहरों के मुख्य मुख्य नागरिकों के साथ चोइथराम का अच्छा परिचय था। और खास बात तो आश्रम में आकर रहने वाले विद्यार्थियों के माँ-बापों के साथ और अभिभावकों के साथ चोइथराम का घनिष्ट परिचय था। यही कारण था कि चोइथराम आश्रम के सर्वेसर्वा अथवा प्राण गिने जाने लगे और सिंध जैसे एक प्रान्त का राजकीय नेतृत्व भी उन के पास आ गया।

श्री जयरामदास, दौलतराम, प्रो० घनश्यामदास आदि प्रमुख आमिल नेता भी डॉ० चोइथराम का महत्त्व कबूल करने लगे। और सिंध ब्रह्मचर्य आश्रम सारे प्रान्त का सांस्कृतिक केन्द्र बन गया।

यहाँ एक छोटी-सी बात का भी जिक्र करना चाहिये

जब मैं पूना की फरग्युसन कॉलेज में पढ़ता था तब दो-तीन क्रान्तिकारी दलों का मैं सदस्य था। इनमें से श्री सावरकर के घनिष्ठ स्नेही श्री विष्णु महादेव भट उन दिनों नाशिक के कलेक्टर जेकसन के खून के संबंध में पकड़े गये थे। उन का निवास हैदराबाद के सेन्ट्रल जेल में था। डॉ० चोइथराम उसी जेल के डॉक्टर ठहरे। उनके जरिये श्री विष्णु भट का और मेरा विचारविनिमय हो सकता था। इस का हम लोगों ने खास लाभ उठाया ऐसा नहीं। किन्तु परस्पर सहानुभूति और आत्मीयता अच्छी तरह से बढ़ सकी।

स्थानिक परिस्थिति के कारण सिंधु ब्रह्मचर्य आश्रम हैदराबाद से कोटरी के पास गिधुबंदर हटाया गया। वहाँ से भी हम लोग फिर शिकारपुर के प्रियतम धर्मसभा में रहने गये। ऐसे स्थानांतर के कारण सिंध के अनेक अच्छे अच्छे प्रभावशाली लोगों से मेरा परिचय हो सका और मैं डॉ० चोइथराम के चारित्र्य के तरह तरह के उज्जवल पहलुओं को भी पहचान सका। सचमुच डॉ० चोइथराम को भगवान ने लोकनेता बनने को ही सरजा था। लोकनेता की ईर्षा हरकोई करता है। लेकिन लोकनेता बनना आसान नहीं है। अनेकानेक लोगों के हृदयों को जब जीता जाता है तभी लोकनेता बनने का भाग्य नसीब होता है। छत्रपति शिवाजी के गुरु श्री समर्थ रामदास ने कहा ही है—

राखावी 'बहुतांची अं तरे भाग्य येई तेव्हां घरे।'

(बहुत लोगों के दिलों को संभालने पर ही भाग्य अपने घर आता है।)

डॉ० चोइथराम ने अपने सेवाकाल के पूर्वार्ध में कितना सहन किया था और कितना त्याग किया था इस की कल्पना आज बहुत कम लोगों को होगी। मान्य नेता बनने के बाद भी उन्होंने कम नहीं सहा है। लेकिन वह तो दुनिया जानती ही है।

सन् १९१४ में यूरोप का जागतिक युद्ध शुरू हुआ और मैं सिंधु

ब्रह्मचर्याश्रम छोड़कर महाराष्ट्र में गया। वहाँ से शान्तिनिकेतन भी गया। वहाँ महात्मा गांधीजी से मेरी मुलाकात हुई और मैं उनका बन गया। महात्मा गांधी का परिचय और अनुग्रह प्राप्त करना कोई मामूली भाग्य नहीं था। शास्त्र का वचन है मिष्टान्न मिलने पर चोर के जैसे अकेले नहीं खाना। अपने इष्ट मित्रों को बुलाकर, सबके साथ मिष्टान्न का सेवन करना चाहिये। इस उपदेश के अनुसार मैंने अपने विशेष स्नेही प्रो० जीवतराम कृपलानी को मुज़फ्फरपुर से शान्तिनिकेतन बुलाया। महात्माजी को समझने के लिये मैंने उन से जो गहरी चर्चा की उस से श्री कृपलानी ने कम नहीं की। परिणामस्वरूप हम दोनों गांधीजी के आदमी बन गये। गांधीजी ने मुझे अपने आश्रम में बुलाया।

नामदार गोखले के कहने से गांधीजी ने एक साल तक देश का केवल निरीक्षण करने का तय किया था। वह साल पूरा होने आया तब मैंने गांधीजी से कहा कि आपको एक दफे सिंध हो आना चाहिये और हमारा ब्रह्मचर्य आश्रम भी देखना चाहिये। डॉ० चोइथराम के बारे में तो मैंने काफी कहा ही था। गांधीजी ने आमंत्रण मंजूर किया और हम सब पहुँचे। चोइथराम का पहला भाषण सुनते ही गांधीजी ने उन की और सिंधी भाषा की शक्ति की दिलोजान से तारीफ की। हैदराबाद से गांधीजी करांची गये। मानो एक ही प्रवास में उन्हों ने सिंध जीत लिया। गांधीजी के सिद्धान्त अपनाते डॉ० चोइथराम को देर न लगी। लेकिन वे इतने चिंतक नहीं थे जितने भावनाशील। और सिंध तथा पंजाब का हिंदु-मुस्लिम सवाल हमेशा पेचीदा तो था ही। गांधीजी की सलाह डॉक्टर को अच्छी तो लगती थी। लेकिन व्यवहार में उस की सफलता के बारे में वे हमेशा शंकाशील रहते थे।

यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि कांग्रेसदल के कई लोग गांधीजी की बातें मानते थे लेकिन हृदय से तो हिंदुसभा की बातें ही उन को अच्छी लगती थीं। फिर भावनाशील डॉ० चोइथराम की बात अगर ऐसी रही तो क्या आश्चर्य? हमारी चर्चा में चोइथराम कई

दफा मुझसे पूछते थे कि "कांग्रेसी मुसलमानों में मुस्लिम लीगी मानस-वाले सदस्य क्या कम हैं ?" मैं उन्हें कहता था, "देश की हालत न आप से छिपी है, न मुझ से। संप्रदायवादी हिंदू और मुसलमान देश में काफी हैं ही। इन के अलावा, जिन को हम संप्रदायवादी नहीं कह सकते, ऐसों में हिंदू ढंग की राष्ट्रीयता और मुस्लिम ढंग की राष्ट्रीयता काफी पायी जाती है।" कभी कभी वे ऐसों में मौलानासाहब का नाम लेते थे और मैं टंडनजी का। अपनी अपनी संस्कृति सारी दुनिया के लिये अच्छी है ऐसा मानने का अधिकार हरएक को है ही। लेकिन दूसरों की संस्कृति के प्रति आदर कम रखना यह भी एक कमजोरी ही है।

डॉ० चोइथराम की राष्ट्रीयता कभी भी फीकी या ढीली नहीं हुई थी। लेकिन उनका दिल टूट गया जब देशका बँटवारा हुआ और सिंधी हिंदू शरणार्थियों को भारत में जहाँ जगह मिली वहाँ आश्रय लेना पड़ा। डॉ० चोइथराम हारे तो नहीं। सच्चे और कसे हुए राष्ट्रसेवक जब तक तनमें प्राण है, सेवा करते ही रहेंगे। मैंने शुरू से देखा था, चोइथराम का स्वास्थ्य कभी अच्छा नहीं रहता था। वे बार बार बीमार पड़ते थे। लेकिन स्वराज्य पाने की संकल्प शक्ति से ही वे अपने को टिका सके थे। स्वराज तो मिला लेकिन देश के बँटवारे के साथ। और बँटवारे में ज्यादा से ज्यादा भुगताना पड़ा। सिंध को बँटवारे के कारण सिंधी हिंदू तितर बितर हुए ही। लेकिन सिंध के मुसलमान भी सुखी नहीं हैं। पूर्व पाकिस्तान में बंगाली मुसलमानों की जो प्रतिष्ठा है इतनी भी प्रतिष्ठा पश्चिम पाकिस्तान में सिंधी मुसलमानों की नहीं है। सिंध की यह दुर्दशा देखकर डॉ० चोइथराम का दिल जो टूटा सो कायम का टूटा। पार्लियामेन्ट के सदस्य रहकर सिंधी शरणार्थियों की सेवा उन्हों ने कम नहीं की। लेकिन वे पहले के डॉ० चोइथराम नहीं रहे थे। सिंध के आमिलों में आत्म-गौरव हमेशा रहता है। उसके लिये जरूरी वातावरण न रहने से चोइथ-

राम चोइथराम नहीं रहे और दुःखी हालत में उन्होंने अपनी जीवनयात्रा पूरी की।

डॉ० चोइथराम जैसे निष्ठावान और तेजस्वी सेवक के प्रति सिंधी लोग तो हमेशा कृतज्ञ रहेंगे ही; किंतु सारे भारत को भी चोइथराम की सेवा के लिये कृतज्ञ रहना चाहिये। स्वराज के आन्दोलन के काल में सिंध ने जो एकाध दर्जन राष्ट्रसेवक दिये उन में डॉ० चोइथराम का स्थान बहुत ऊँचा था। उनकी पावन स्मृति सब देशवासियों के लिये प्रेरक ही रहेगी।

१ जुलाई १९६५

१८

उभयान्वयी डॉ० गोपीचंद भार्गव

डॉ० गोपीचंद भार्गव के स्वर्गवास का समाचार मुझे बम्बई में मिला। समाचार सुनते ही डॉ० गोपीचंद की सात्त्विक और गंभीर-मूर्ति नजर के सामने खड़ी हुई। जब हम मिलते थे, कभी ज्यादा बातें की ही नहीं। लेकिन हमारी हार्दिक घनिष्ठता थी। थोड़े ही दिन पहले चण्डीगढ़ में मैं उनका मेहमान रह चुका था। उसके बाद उनके घर जब उनके पुत्र की शादी का मंगल प्रसंग था तब भी मैं उपस्थित रहा था। उनके प्रति मेरा आकर्षण और आदर इसलिये था कि गांधीजी की खादी आदि रचनात्मक प्रवृत्तियों में भी उन्हें गहरी और कार्यशाली दिलचस्पी थी। और गांधीजी के जमाने की कांग्रेस की राजनीति से भी वे अच्छी जानकारी और योग्यता रखते थे। इसीलिये मैं उन्हें उभयान्वयी गोपीचदर्जी कहता था।

जब गांधीजी ने हिन्दु-मुस्लिम ऐक्य के द्वारा देश की एकता मजबूत करने का रचनात्मक तरीका सोचा तब उन्होंने राष्ट्रभाषा-प्रचार को हिंदुस्तानी का नाम दिया। इससे देश में गरमा गरम चर्चा हुई। हिंदी का पक्षपाती दल काफी नाराज हुआ। हम निकले हिंदू-मुस्लिम ऐक्य करने और नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के कारण हिंदीदल के ही दो विभाग बने। फिर तो राष्ट्रभाषा-प्रचार प्रवृत्ति का ही नहीं, भारत का भी बँटवारा हुआ, जिसके कारण सबसे अधिक पंजाब को ही सहन करना पड़ा।

जब गांधीजी ने श्री टंडनजी की सम्मति लेकर हिन्दुस्तानी प्रचार

सभा की नींव डाली तब डॉ० गोपीचंद जी को हमारी सभा के सदस्य बनने की प्रार्थना की। अनुभवी दीर्घदर्शी नेता डॉ० गोपीचंदजी को गांधीजी की प्रार्थना को स्वीकार करने में एक क्षण की भी देरी न लगी।

महाभारतकाल से पंजाब का प्रदेश एक समस्यारूप है ही।

यूरोप के पोर्चुगीज़, फ्रेंच, अंग्रेज आदि गोरे लोग भारत में समुद्र के रास्ते आये उसके पहले जो भी परदेशी लोग भारत आये, ज्यादातर पंजाब के रास्ते ही आये हैं। इस सारे इतिहास का अनुभव पंजाबियों के खून में है। इसलिये पंजाब के स्वभाव में कुछ अस्वस्थता रहती ही है। ऐसे प्रांत में जिन लोगों ने इतिहास गंभीर स्थिरता बताई ऐसे पंजाबियों में तीन के परिचय से मैं कृतार्थ हुआ हूँ। एक हैं लाला लाजपतराय, दूसरे स्वामी श्रद्धानंदजी और तीसरे डॉ० गोपीचंदजी भार्गव। जब मैंने स्वनामधन्य लाला लाजपतराय का नाम लिया तब लाला अचिंतराम उसमें आ ही गये। और उनके जैसे और भी अनेक हैं। सबका यहाँ स्मरण करना आवश्यक नहीं है।

डॉ० गोपीचंदजी गांधीजी के सब रचनात्मक कामों में पूरी दिलचस्पी लेते थे। क्योंकि राष्ट्रीय-एकता और सामाजिक-दृढ़ता का महत्त्व वे पहचानते थे। खादी की की हुई उनकी सेवा पंजाब का हर एक आदमी कृतज्ञता से याद करता है। डॉक्टर साहब का देहान्त भी किसी कर्मवीर को शोभा दे ऐसा खादी कार्यालय की कुर्सी पर ही हुआ।

उनकी राजनैतिक सेवा का मूल्यांकन पहले की अपेक्षा आज हम अधिक कर सकते हैं जबकि पंजाब का सार्वजनिक जीवन अनेक कारणों से तितर-बितर हो रहा है।

जब मैं चण्डीगढ गया था तब मैंने हमारी गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य-सभा की व्यापक नीति के बारे में उनसे मशविरा किया था। मैंने कहा, "हिंदी-उर्दू की मिश्र शैली का प्रचार और नागरी और पर्शियन दोनों लिपियों का अध्ययन, इतनी ही बातें लेकर आज सभा

का काम नहीं हो सकेगा। गहराई में उतरकर सर्वधर्म-समभाव और संस्कृति समवन्य की गहरी और ठोस बुनियाद पर ही अब प्रचार करना पड़ेगा।" डॉ० साहब ने मेरी सब बातें गंभीरता से सोचीं और मेरी दृष्टि का पूरे हृदय से समर्थन किया। आज उनकी गंभीर-मूर्ति का स्मरण करता हूँ तब उनका वह समर्थन आज मुझे आशीर्वाद स्वरूप बनकर बल दे रहा है।

स्वर्गस्थ डॉ० गोपीचंदजी भार्गव का देहान्त सारे देश को प्रेरणा-दायी बने।

१५ जनवरी १९६७

१९

लाला अचिंतराम

देश के प्रथम श्रेणी के नेता जनता को प्रेरणा देते हैं और कार्यकर्ताओं को इकट्ठा करते हैं। लेकिन उनके कार्यक्रम अमल में लाने का काम, उनकी नीति समझकर दूसरों को समझाने का और उनका संदेश जनता तक पहुँचाने का काम द्वितीय श्रेणी के नेताओं के सिर पर आता है। सचमुच राष्ट्रीय नीति की सफलता इन्हीं की कुशलता पर आधार रखती है। पुराने रस्मरिवाज और लोगों की भावनाएं समझकर उनमें कितना परिवर्तन तुरन्त हो सकता है, और वह कैसे करना चाहिये, इसका अंदाजा भी यही स्थानिक नेता कर सकते हैं। राष्ट्र की नैतिक शक्ति के सच्चे प्रतिनिधि इसी कोटि में पाये जाते हैं। राष्ट्र का सच्चा बल इन्हीं की निष्ठा में से पैदा होता है। लाला अचिंतराम इसी कोटि के प्रांतीय नेता थे, जिनका वर्णन हम दो ही शब्दों में कर सकते हैं: निष्ठा और हृदयशुद्धि।

बीसवीं शती में भारत में जो भी उन्नतिकर आंदोलन हुए, उनका महत्त्व पहचानकर उन्ही को अचिंतरामजी ने अपनाया। भारत के उत्तर-पश्चिम सिरे का सारा बोझ पंजाब के सिर पर है। भारत के सब सवाल पंजाब में ही उत्कट बनते हैं। सनातनी हिन्दू, मुसलमान, सिख और आर्यसमाजी इन चार प्रधान लोक-समुदायों का संघर्ष, समझौता और सहयोग—यही है पंजाब का इतिहास। इन सबका विश्वासपात्र बनना आसान काम नहीं है। पूरी राष्ट्रीय वृत्ति से ही यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। लाला हंसराज और लाला लाजपतराय जैसे राष्ट्र नेताओं से प्रेरणा पाकर लाला अचिंतराम ने भारत के

उज्जवल भविष्य के प्रति अपनी निष्ठा बनाकर पंजाब की सेवा की और ऐसी निःस्वार्थ सेवा की कि जब परस्पर अविश्वास के कारण लोग पागल बने, तब भी लाला अचिंतराम सबके विश्वासपात्र रह सके थे।

लाला लाजपतराय के लोकसेवक समाज के द्वारा गांधीजी की नीति के द्वारा पंजाब की सामाजिक और राजनैतिक सेवा करने में अचिंतरामजी ने अपनी सारी आयु व्यतीत की।

जब देश का बँटवारा हुआ और मुस्लिम-लोग की ज़िद मंजूर की गयी तब सबकी अपेक्षा थी कि अब तो देश में शांति और भाईचारा स्थापित होगा। लेकिन हुआ ऊलटा ही। देश के बँटवारे के साथ मानो हृदय का बँटवारा हुआ। और लोगों की महत्त्वाकांक्षा को कोई मर्यादा ही न रही। अविश्वास, द्वेष और ईर्षा का बाज़ार गरम हुआ। ऐसे समय पर हालत सँभालने का काम जिन राष्ट्र-पुरुषों ने किया उनमें अचिंतरामजी का काम ऊँचा था। उनका काम था रचनात्मक, लेकिन उन्हें राजनीति में भी प्रत्यक्ष सेवा करनी पड़ी।

कांग्रेस और पार्लियामेन्ट, ये देश की दो बड़ी संस्थाऐं हैं। इन दोनों के द्वारा अचिंतरामजी ने दुनिया की सेवा की है। स्वदेशी खादी, कौमी एकता, अस्पृश्यता निवारण आदि गांधीजी के कार्य और भूदान-प्रवृत्ति जैसा विनोबाजी का कार्यक्रम, सब क्षेत्रों में अचिंतरामजी कभी भी पीछे नहीं रहे हैं।

इनका क्षेत्र तो पंजाब ही था। लेकिन अपने प्रांत में उन्होंने इतना काम किया था कि उन्हें अखिल भारतीय योग्यता प्राप्त हुई थी। यही कारण था कि असमीया और बंगालियों के बीच का मनमुटाव, दूर करने के लिये, वे आत्मविश्वास के साथ असम जा सके थे।

देश का दुर्दैव है कि राष्ट्र सेवा के लिये जितने योग्य पुरूष मिलने चाहिये, नहीं मिलते। इसलिये जो मिलते हैं उनको दिनरात काम करना पड़ता है। अपना स्वास्थ्य खोकर भी सब प्रवृत्तियाँ चलानी

पड़ती हैं। और सेवा करते-करते अपने प्राणों की आहूति देनी पड़ती है। यह दुर्देवी राष्ट्र ऐसे बलिदान का बिलकुल ठंडे कलेजे से स्वीकार करता है। मानो मानता है, यह उनका अधिकार ही है। लाला अचिंतरामजी ने उत्कट सेवा करते-करते अपनी देह छोड़ी। जनता को पश्चात्ताप करना चाहिये कि उसने अचिंतराम-जैसे उत्कृष्ट राष्ट्र सेवक को खोया, जब उनकी उम्र पैंसठ साल की भी नहीं थी। अपना स्वास्थ्य खोने पर भी सेवकों को सेवा करनी पड़े और उनका समय के पूर्व देहांत हो जाय, यह स्थिति राष्ट्र के लिये अच्छी नहीं है। हम आशा करते हैं कि अचिंतरामजी का उदाहरण नज़र के सामने रखकर बहुत से नये-नये सेवक सेवा की दीक्षा लेंगे और उनकी उज्ज्वल परंपरा आगे चलायेंगे।

१ जनवरी १९६४

२०

महामति महादेव गोविंद रानडे

राजा राममोहन राय बंगदेश की आधुनिक जागृति के मूलस्रोत माने जाते हैं। राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक—सभी क्षेत्रों में उन्होंने नवयुग का प्रारम्भ किया। बंगाल के लोग उन्हें इस युग के मानो एक मनु ही समझते हैं।

राजा राममोहन राय ने जो कार्य बंगाल के लिये किया, वही कार्य पश्चिम भारत के लिए और खासकर महाराष्ट्र के लिए उसी योग्यता से और जीवन के करीब-करीब सब क्षेत्रों में न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे ने किया। उनका प्रभाव हमारी स्वातन्त्र्य-साधिका कांग्रेस के ऊपर शुरू से ही था। और हमारे देश की अद्यतन राजनीतिक, राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्तियाँ रानडे के ही सुझाव के अनुसार प्रधानतया चल रही हैं। बंगाल के रायमहाराज और महाराष्ट्र के रानडे—दोनों की दृष्टि की व्यापकता और गम्भीरता देखकर आज भी हम चकित होते हैं। गिरे हुऐ दिनों में भी रानाडे भारत की सांस्कृतिक प्राणशक्ति पहचान सके थे। और परराज्य का दोष समझते हुए भी, पश्चिम के सम्पर्क से हमें क्या-क्या सीखना है और राष्ट्र के जीवन में क्या-क्या परिवर्तन करना है, इसका चित्र उनके सामने स्पष्ट था। हम उनको न्यायमूर्ति के नाम से पहचानते आये हैं।

जब मैं शान्तिनिकेतन में था और रानडे-गोखले की बातें वहाँ के अध्यापकों में छिड़ती थीं, तब शाँतिनिकेतन के अध्यापक मुझ से कहते थे

कि, "जिनको आप न्यायमूर्ति रानडे कहते हैं, उन्हें हम महामति रानडे के नाम से पहचानते हैं। रानडे के विचारों का प्रभाव हम पर कम नहीं है।"

ऐसे दीर्घदर्शी, प्रतिभावान नेता की जन्मशताब्दि हम लोग नहीं मना सके, क्योंकि सन् १९४२ में हमारी भारतमाता स्वतन्त्रता की प्रसव-वेदना में थी। आज बीस साल के बाद हम पितामह रानडे का शांति से और प्रसन्नता से श्राद्ध कर सके हैं इसका हमें गौरव है। अपने सारे सुझाव कारगर हुये देखकर महादेव गोविन्द की आत्मा स्वर्ग में धन्यता अनुभव करती होगी और सारा देश भी उनका स्मरण करके अपने को पावन मान सकता है।

राष्ट्रपिता गांधीजी भारत सेवक गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। और स्वयं गोखले, न्यायमूर्ति को अपने गुरु कहते थे। इसीलिए मैंने रानडे को पितामह कहा है।

श्री रानडे का जीवनकाल सन् १८४२ से लेकर १९०१ तक का है। साठ साल के पांच तप माने जाते हैं। इस काल के दरमियान रानडे ने 'सत्तावन' साल का असफल प्रयत्न देखा, इस असफलता के कारण ढूंढ लिये, और राष्ट्र के सामने एक नया मोड़ पेश किया, जो राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस, अखिल भारतीय सामाजिक परिषद, औद्योगिक परिषद, प्रार्थना समाज, पूना की सार्वजनिक सभा, डेक्कन सभा, वसन्त व्याख्यान-माला, बम्बई की हेमन्त व्याख्यान-माला, मराठी ग्रन्थसंग्रहालय, आदि अनेक संस्थाओं के द्वारा राष्ट्रीय उत्थान का काम करता रहा।

गिरे हुए राष्ट्र को और आन्तरिक मतभेद के कारण व खासकर दकियानूसी संकुचितता के कारण छिन्न-भिन्न हुए समाज को सजीवन करने के लिये, उसका आत्मविश्वास जाग्रता करना जरूरी होता है। यह काम रानडे ने 'Rise of Maratha Power' नामक ग्रन्थ के द्वारा किया। दक्षिण के पाँच मुसलमानी पठान राज्यों का मुकाबला कर के हिन्दवी स्वराज्य स्थापन करनेवाले छत्रपति शिवाजी का मिशन क्या

था, और उनके सर्वांगीण कार्य को महाराष्ट्र के सन्तों ने कैसी मदद की, ये सारी बातें उस किताब के द्वारा उन्होंने देश के सामने रखीं।

यंत्रयुग के बल पर पश्चिमी देशों का सामर्थ्य कैसा बढ़ रहा है यह देख कर रानडे ने भारत की आर्थिक नीति क्या होनी चाहिये, कल-कारखाने और उद्योग-हुनर बढ़ाने की आवश्यकता कितनी है, यह सब समय-समय पर लेख लिखकर देश को और अंग्रेज सरकार को समझाया। 'Essays in Indian Economics' नामक संग्रह में रानडे की पूरी नसीहत हमें मिलती है। अंग्रेज सरकार को रानडे की बातें अच्छी कैसे लगती? लेकिन रानडे तो प्रतिकूल परिस्थिति में भी देशहित के अपने स्वतन्त्र विचार निर्भयतापूर्वक पेश करते रहे।

यह पहचान कर कि भारत की कमजोरी राजनीतिक उतनी नहीं जितनी सामाजिक थी, रानडे ने सारे देश के अन्यान्य नेताओं की मदद से 'सामाजिक परिषद' की स्थापना की। और यह देखकर कि समाज-सुधार की बुनियाद धर्मसुधार के बिना मजबूत नहीं हो सकती, रानडे भांडारकर, मोडक आदि देशहित चिन्तकों ने 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की।

इसके पहले इसी उद्देश्य से राजा राममोहनराय आदि बंगाल के नेताओं ने वहां ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी। और प्रतापचन्द्र मजूमदार जैसे धर्मप्रचारक वक्ता बम्बई आते जाते भी थे। ब्रह्मसमाज का आधार उपनिषद, शांकर वेदांत, बौद्धग्रंथ और इस्लामी सूफीवाद था। बाद में ईसाई युनिटेरियन चर्च का असर भी बढ़ा। प्रार्थना समाज को रामानुज का विशिष्ट अद्वैत वेदांत अधिक अनुकूल लगा। रानडे और भांडारकर जितना उपनिषदों का आधार लेते थे, उससे भी अधिक एकनाथ, तुकाराम आदि अभेद-भक्ति और सदाचार के प्रेरक मराठी सन्तों के वचनों का आधार लेते थे। रानडे ने विस्तार से समझाया है कि प्रार्थना समाज भागवत धर्म का ही विशुद्ध रूप है।

जिस स्वदेशी आन्दोलन ने सारे भारत में आर्थिक और सांस्कृतिक

स्वावलम्बन का प्राण फूँका, उस आंदोलन की गंगोत्री रानडे महानुभाव की प्रेरणा में ही पाई जाती है।

कलकत्ता, लखनऊ, लाहौर आदि अनेक शहरों में, समाज-सुधार के मंच पर से रानडे ने जो व्याख्यान दिये, उनमें उनकी संस्कृतिनिष्ठा और समाज सुधार की व्यापक दृष्टि पायी जाती है। 'वसिष्ठ और विश्वामित्र' शीर्षक उनका अभिभाषण आज भी उतना ही प्रेरक है जितना कि वह उस समय था। मुसलमानों के इस देश में आने से हमारे जीवन में क्या-क्या परिवर्तन हुआ उसका रानडे का खींचा हुआ चित्र आज भी उद्बोधक है। उसका शीर्षक शायद उन्होंने लिया कबीर साहब की वाणी से कि 'मैं हूँ न हिन्दू, न मुसलमान।'

ऋषि-मुनि का काम जिन्हें करना पड़ता है, वे भूतकाल की पूँजी का महत्व जानते हैं। वर्तमान की परिस्थिति भी नस-नस पहचानते हैं। लेकिन उनकी दृष्टि होती है भविष्यकाल पर, और उसकी उज्ज्वल सम्भावना पर। ऐसे लोग जब समाज-परिवर्तन की बात करते हैं। तब रूढ़िग्रस्त समाज उनका विरोध करता ही है। हरएक सुधारक को गलत फहमी और निन्दा का शिकार बनना ही पड़ता है। संस्कृति की अपूर्णता ही ऐसी है कि हर देश और जमाने में प्रगतिशील समाज-सेवक को हर तरह का उपहास और विरोध सहन करना पड़ता है। महाराष्ट्र में भी इसका अनुभव हरएक सत्पुरुष को होता आया है। लेकिन जिस धीरोदात्त शांति और क्षमावृत्ति से रानडे ने उपहास और विरोध सहन किया उसे देखते महाराष्ट्र के आद्य और श्रेष्ठ संत ज्ञानेश्वर महाराज का ही स्मरण होता है।

सचमुच न्यायमूर्ति रानडे की देन महाराष्ट्र के लिए और सारे राष्ट्र के लिए अपूर्व ही है। इनके ऋषि-ऋण से हम अभी तक मुक्त नहीं हो सके हैं।

१५ जनवरी १९६२

२१

महिलावत्सल कर्मवीर कर्वे

'शतायुर् वै पुरुषः ।' मनुष्य को सौ बरस की आयु मिली है। यह ऋषिवाणी पूरी-पूरी सिद्ध करने वाले महाराष्ट्र के एक महर्षि इस महीने की नौ तारीख को इस लोक को छोड़ गये। मृत्यु के समय उनकी आयु १०४ साल की थी और आखिर तक स्वास्थ्य अच्छा रखकर वे कुछ-न-कुछ काम करते ही रहे।

महर्षि कर्वे महाराष्ट्र के हमारे जमाने के सर्वोत्तम प्रवृत्तिपरायण संत थे, सात्त्विकता की मूर्ति थे।

लोकमान्य तिलक, नामदार गोखले, समाजसुधारक आगरकर, आचार्य आपटे और गोळे जैसे लोगों ने जिस फर्ग्युसन कॉलेज को चलाया उसी कॉलेज में प्राध्यापक धोंडो केशव कर्वे भी थे। इस काम को छोड़कर युवावस्था में ही उन्होंने स्त्री-जाति की उन्नति का कार्य अपनाया। कर्मवीर कर्वे ने एक विधवा के साथ विवाह करके अपनी सेवा का प्रारम्भ किया। महाराष्ट्र का रिवाज है कि किसी भी तत्त्वनिष्ठ कर्मवीर की कसौटी करने में कचास नहीं रखनी चाहिये। दयामाया छोड़कर उसका जितना प्रतिवाद हो सकता है, करते रहना। जब कर्म-वीर ने पुनर्विवाह किया तब समाज ने उनका यहाँ तक बहिष्कार किया था कि वे किसी से मिलने गये तो बैठने की दरी हटाकर इस बहिष्कृत को फर्श पर बैठने को कहते थे। इस तरह की परेशानी कर्वे ने शांति से सहन की। उनके ग्राम के लोगों ने जब ग्रामभोज में उनको न्यौता

नहीं दिया तब उन्होंने कहा कि, मान लिया कि पुनर्विवाह करने से मैं ब्राह्मण भ्रष्ट हो गया। लेकिन गांव के चांडाल भी तो ग्रामभोज में अन्न पाते हैं। मुझे मन्दिर में न लीजिये। रास्ते पर बिठाकर मुझे खिलाइये। मेरा स्पर्श टालने के लिए मेरी पत्तल पर दूर से अन्न फेंक दीजिये। लेकिन आप मेरा बहिष्कार तो नहीं कर सकते। ग्रामवासी जो हूँ।'

इतनी निरभिमान आत्मीयता और सात्त्विकता के सामने दकियानूसी समाज का भी क्रोध कहां तक टिक सकता है ?

कर्मवीर कर्वे ने विधवाओं के लिये पूना के पास एक आश्रम विद्यालय खोला, जो आज तिहत्तर बरस हुए, लगातार विकास करता ही आया है और आज उसने स्त्रीजाति के लिए स्थापित विश्वविद्यालय, युनिवर्सिटी का रूप धारण किया है। जिस आदमी को अपनी दरी पर बिठाना भी समाज को मंजूर नहीं था, उस समाज ने साठ पैंसठ बरस तक अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए, अच्छे सस्कार पाने के लिए उन्हीं के पास भेजा और जीते जी उन्हें महर्षि की पदवी प्रदान करके उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

महर्षि कर्वे शिक्षा के आचार्य थे, समाज-सुधार के अध्वर्यु थे। उनके शिष्य, अनुयायी और भक्त सारे महाराष्ट्र में और भारत में फैले हुए हैं। अपने ध्येय का पालन करते व्यवहार की दृष्टि उन्होंने कभी छोड़ी नहीं थी। सारी शिक्षा विद्यार्थी को उसकी स्वभाषा में ही मिलनी चाहिये और ऐसी शिक्षा आसानी से दी जा सकती है इस पक्ष के सफल समर्थक महर्षि कर्वे थे। महाराष्ट्री जनता प्रेम से कहती थी कि बोलने वाले समाज-सुधारक और राष्ट्रसेवक बहुत होते हैं। जो करके दिखायेगा वही 'कर-वे' हैं। ऐसे महर्षि को श्रद्धांजलि अर्पण करना राष्ट्र के लिए ऋषितर्पण का प्रकार है।

१५ नवम्बर १९६२

: २ :

किसी ने ठीक ही कहा है कि उनको जो करना था, उन्होंने करके दिखाया। केवल बोलकर उन्होंने संतोष नहीं माना—

"करवे ही ठहरे ! वे थोड़े ही बोलते हैं।"

अण्णासाहेब ने स्त्री शिक्षा का और खास करके अनाथ बालिकाओं का सवाल अपने हाथ में लिया और सतत सेवा, चिन्तन, प्रचार और शिक्षा के द्वारा महाराष्ट्र का मानस और सामाजिक रूप पूरा-पूरा बदल दिया। जिस तरह गांधीजी ने भारत की स्त्रियों की स्थिति ही बदल डाली उसी तरह महर्षि कर्वेने महाराष्ट्र की स्त्री का आंतरबाह्य स्वरूप बदल डाला। कई बार जब मैं भारत के अन्य प्रदेश के लोगों से बात-चीत करता हूँ तब कहता हूँ कि हम बम्बई राज्य के लोग भारत के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक पाश्चात्य हैं। भारतीय स्त्री को अच्छे अर्थों में पाश्चात्य बनाने में महात्माजी का और महर्षि कर्वे का पुरुषार्थ सबसे अधिक है।

इन दोनों प्रपितामहों को श्रद्धांजलि अर्पण करने के बाद दिल अवश्यमेव अन्तर्मुख होकर पूछता है कि क्या सचमुच स्त्री जाति का उद्धार हो चुका है ? स्त्री-पुरुष-युक्त समाज में स्त्री को उसका स्वाभाविक और योग्य स्थान मिला है ? अगर पूरा नहीं मिला है तो सवाल उठता है कि क्यों नहीं मिला ?

स्त्रियों का उद्धार स्त्री जाति से ही होगा। पुरुषों की मदद बहुत कुछ होगी। वह अत्यावश्यक भी है। क्योंकि पुरुष और स्त्री मिलकर ही समाज बनता है। अकेली स्त्री या अकेले पुरुष के ख्याल से दोनों भले ही पूर्ण व्यक्तित्व धारण करते हों, लेकिन ऐहिक और सामाजिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष सचमुच जीवन के अपूर्णांक ही हैं। दोनों मिलकर ही पूर्णांक और वर्धमान अंक हो सकते हैं। लेकिन स्त्री जाति के उद्धार में प्रधान हिस्सा स्त्री जाति का ही होना चाहिये। पुरुष

जाति में इस जमाने में भी लोकोत्तर पुरुष हुये हैं। लेकिन इस जमाने में स्त्री जाति में कोई गांधी या विनोबा पैदा नहीं हुये हैं। हमारे देश में स्त्रियों में कोई विज्ञान शास्त्री (विज्ञानवेत्ता), अर्थशास्त्रकोविद, समाजशास्त्रधुरीण या संगठन कुशल लोकोत्तर विभूति का प्रादुर्भाव अभी तक हुआ नहीं है।

कहते हैं कि पुरुष का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अकेला पुरुषार्थ या पराक्रम कर सकता है। कौटुम्बिक जीवन के लिये स्त्री का सहयोग भले ही आवश्यक हो, सामाजिक पुरुषार्थ में, आध्यात्मिक जीवन-परिवर्तन में, पुरुष अकेला चाहे वैसे आदर्श को सिद्ध कर सकता है। लेकिन पुरुष के सहयोग के बिना स्त्री पनप नहीं सकती।

यह बात अगर सही है तो स्त्रियों को आत्मोन्नति के लिये और समाज के नये आदर्श के लिये नये ही प्रकार के पुरुषों का सहयोग प्राप्त करना चाहिये। स्वेच्छा से जीवन को मनोवांछित रूप देना, अपनी इच्छा के अनुसार प्रारम्भ करना और शुरू की हुई चीजों पर अपना अधिकार या आधिपत्य चलाना यह सब स्त्री के लिये नया क्षेत्र है। नई शक्ति, नये सद्‌गुण कमाने का काम नये सिरे से शुरू करना है।

आज तक पुरुष अपना जीवनक्रम निश्चित करके उसके अनुरूप किसी योग्य सहधर्मचारिणी को खोजते आये हैं। अब चन्द स्त्रियाँ ऐसी हों जो अपना जीवन कार्य और जीवन क्षेत्र स्वतन्त्ररूप से तय करके उस कार्य में सहयोग दे सकें ऐसे किसी अनुरूप सहधर्मचारी को ढूँढ़ लें और शादी के समय उसे कहें कि, "मेरे व्रतके पीछे-पीछे तुम्हें आना होगा। मेरे जीवनक्रम के साथ तुम्हें एकरूप होना होगा। 'स त्वं माम् अनुव्रतो भव'।"

ऐसी वृत्तिशक्ति की महिला ही स्त्री जाति में जाग्रति ला सकेगी। आज तो ऐसा आदर्श न पुरुष पसन्द करते हैं न स्त्री। इस आदर्श को ग्राह्य होते काफी समय लगेगा। उसे अमल में लाते उससे भी अधिक

समय लगेगा। लेकिन इस आदर्श को किसी-न-किसी दिन, चन्द लोगों के जीवन में, सिद्ध होना ही है।

२२ अप्रेल १९६८

:३:

सज्जन, संत, सत्पुरुषों की निन्दा करना; दुर्जनता से उनकी कठोर कसौटी करना; उनके कार्य को तोड़ने की पूरी कोशिश करना; उन्हें शहीद होने का मौका देना और बाद में, उनकी मौत के बाद कहना, 'अब हमारा विश्वास हो गया कि यह सच्चा महात्मा था, सत्पुरुष था; उसका स्मारक बनाना चाहिये; उसकी पूजा करनी चाहिये; उसका संदेशा घर-घर पहुँचाना चाहिये।' यह है सारी दुनिया का तरीका। एक महात्मा का बलिदान लिया। इसलिये पछताकर दूसरे महात्मा की कठोर कसौटी करने से, उसे सताने से समाज बाज नहीं आता। मराठी में एक कहावत है—

"असतांना केलें नाहीं अन्नदान,
मेल्यावर म्हण पिण्डप्रदान।"

पिता के जीते जी उन्हें खिलाया तक नहीं, उनके स्वर्ग सिधारने के बाद उनके पीछे श्राद्ध के पिंड भेज रहे हैं!

समाज सुधारक के बारे में ऐसे ही होता आया है। और महाराष्ट्र में तो सबसे ज्यादा।

एक आनन्ददायी अपवाद महर्षि अण्णासाहेब कर्वे का है, जिन्होंने इसी जिन्दगी में समाज की ओर से परेशानी भी सहन की और उसके बाद समाज के प्रायश्चित-युक्त आदर का भी अनुभव किया। इसका कारण उनकी लोकोत्तर नम्रता, असीम निष्ठा, अखण्ड कर्मयोग और जीवन-निष्ठा की समतुला यही है। मुझे मालूम नहीं कि अण्णासाहेब

कर्वेका आत्मचरित्र हिन्दी में हुआ है। या नहीं। सारे राष्ट्र को पढ़ने योग्य वह छोटी-सी किताब है।

अध्यापक कर्वेने अनाथ बालिकाओं की सेवा करने का काम स्वेच्छा से सिर पर लिया। पूना से थोड़े दूर एक गांव में एक आश्रम खोला। पैसे की सहूलियत तो थी नहीं। सारा दिन कालेज में पढ़ाकर, शाम को बाजार से चीजें खरीदकर वह सारा बोझ सिर पर उठाकर वे आश्रम पहुँचते और वहाँ पर रहने वाली विधवाओं को पढ़ाते थे। घर का और संस्था का खर्चा चलाने के लिये उन्हें इतनी मेहनत करनी पड़ती कि खाने के लिये भी उनके पास पूरा समय नहीं रहता। जब वे बम्बई में रहते थे और अनेक ट्यूशन करते थे तब घरके लोग उनके लिये दाल-चावल या छाछ-चावल एकत्र मिलाकर तैयार रखते थे ताकि भोजन करने में चन्द क्षण की बचत हो जाय।

तपस्वी कर्वेने अपने ही रिश्ते की एक बालविधवा का दुःख पहचान लिया और उससे शादी की। जमाना रूढ़िवाद के साम्राज्य का था। समाज ने उनका बहिष्कार किया। यहाँ तक कि अगर वे किसी से मिलने गये तो फर्श पर की दरी हटाकर उन्हें जमीन पर बैठने को कहा जाता था।

उनकी नम्रता और आत्मीयता को भी लोगों ने शुरू-शुरू में ठुकरा दिया था वही आज रूढ़िभूषण धर्ममार्तण्ड समाजनेता अपनी लड़कियों को और बहुओं को कर्वेकी संस्था में पढ़ने भेजते हैं।

कर्वेने हिंगणे बुद्रूक में अनाथ बालिकाश्रम चलाया। उस छोटे पौधे का महावृक्ष बना। स्त्रियों का विश्वविद्यालय स्थापित करने का संकल्प पूरा करके ही उन्होंने छोड़ा।

एक दिन धन-संग्रह के हेतु महर्षि कर्वे अहमदाबाद आये। महात्माजी ने सत्याग्रहाश्रम की स्थापना करके बहुत दिन नहीं हुये थे। कर्वे महात्माजी से मिलने आश्रम में आये तब गांधीजी ने सब आश्रम-वासियों को इकट्ठा किया और कहा, "इन्हें सब साष्टांग प्रणिपात करें।"

महात्माजी ने कहा कि, "मैंने दक्षिण अफ्रीका में गोखलेजी से पूछा था कि आपकी दृष्टि से भारत में सत्यवादी, सत्पुरूष कौन-कौन हैं ? गोखलेजी ने तीन व्यक्ति के नाम बताये। इनमें महर्षि कर्वेका नाम प्रथम था। हमारा आश्रम सत्याग्रहाश्रम है। हम सत्य की दीक्षा लिये हुए आश्रम में रहते हैं। सत्यवादी पुरुष हमारे लिये भगवान की विभूति हैं। इसलिये इन्हें हम साष्टांग दण्डवत प्रणाम करके अपने को पुनीत बनावें।"

कर्वेकी आँखों में से आँसू बहने लगे। वे कुछ बोल न सके। गांधीजी ने अहमदाबाद के धनी लोगों से कहा कि कर्वेकी शिक्षा-प्रणाली से मैं सहमत नहीं हूँ। तो भी कहता हूँ कि इस पवित्र ब्राह्मण को यथेष्ट धन देकर ही लौटाइये। इनकी संस्था को धन की तंगी नहीं होनी चाहिए। ऐसे निष्टावान लोगों की कदर करने का धर्म अहमदाबाद का है।

महर्षि कर्वे अपना जीवन कार्य पूरा करके महिला विद्यापीठ से निवृत्त हुये। लेकिन कर्मयोग कैसे छोड़ सकते ? उन्होंने निष्काम कर्म के मठ की स्थापना की। रोज पैदल जाकर पाई-पैसा इकट्ठा करने लगे। प्राथमिक शिक्षा का एक छोटा-सा प्रयोग चालू किया।

आज भारत भर में कर्वे की प्रिय शिष्यायें अनेक संस्थाएं चलाती हैं। इनका शिष्य-परिवार कबीर बड़ से भी बड़ा है। स्वराज्य सरकार ने इनकी सेवा की कदर करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी। सात्विक तपस्वी, कर्मयोगी, अध्यापक कर्वेने अपने सौ बरस पूरे किये। आत्मकथा के रूप में उन्होंने अपने जीवन के पूर्वार्ध का इतिहास दिया है। काश अपने पूर्ण जीवन का सर्वांग परिपूर्ण इतिहास वे भविष्य के लोगों के लिये लिख छोड़ते।

२२ अप्रेल १९५८

२२

पूर्णायु आचार्य भगवानदास

'व्यशेम देवहितं यद् आयुः' इस प्रार्थना की सफलता अगर हम पूरी-पूरी कहीं देख सकते हैं तो कर्ममार्गी ठक्कर बापा में और ज्ञानमार्गी दार्शनिक आचार्य बाबू भगवानदास में। बाबू भगवानदास ने अपना जीवन शुरू में श्रीमती एनीबिसेन्ट की थिऑसॉफिकल सोसायटी को अर्पण किया। कई लोगों ने उन दिनों कहा, जैसे पंढरीनाथ तेलंग के बारे में हुआ वैसे बाबू भगवानदास के बारे में भी हुआ। इस स्वात्मार्पण से उनका विकास चरम कोटि तक पहुँचने के बदले कुछ रुक-सा गया। लेकिन हम मानते हैं कि ऐसे मनीषी और पुरुषार्थी व्यक्तियों का विकास कभी रुक ही नहीं सकता। ऐसों की जीवन-साधना का क्रम उनके व्यक्तित्व के अनुसार नियत ही होता है और उनको पूर्ण विकास का वायुमण्डल आप-ही आप मिलता है। बाबू भगवानदास जैसे भारतीय तत्त्वज्ञान में पारंगत थे, वैसे ही पश्चिम की विचार-प्रणाली से भी पूर्ण परिचित थे। दोनों का समन्वय साधते वे पश्चिम के ओघ में बह नहीं गये, दब नहीं गये। हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का समन्वय कितना अपरिहार्य है यह भी वे अच्छी तरह से जानते थे। उसमें भी आर्यसंस्कृति का प्राधान्य भारत के लिये कितना अपरिहार्य है यह भी वे पूरी तरह से समझते थे। इसमें स्वकीय संस्कृति के प्रति स्वाभाविक पक्ष-पात का माद्दा करीब-करीब नहीं के जैसा था।

Science of Peace, Science of Emotions जैसे उनके विद्वत्तापूर्ण प्राथमिक ग्रन्थों की बात हम छोड़ दें। Fundamental Unity of All Religions जैसे उनके समन्वयकारी ग्रन्थराज की भूमिका आर्य संस्कृति की ही है। इस बुनियाद के साथ दुनिया की सब धर्म-संस्कृतियों का समन्वय उन्होंने सफलतापूर्वक करके दिखाया। 'मानवधर्म-सार' उनकी भारत को सुन्दर भेंट है।

बाबू भगवानदास को साक्षात्कार हुआ था कि महद् समन्वय ही भारत के इतिहास का और भारतीय संस्कृति का सार्वभौम मिशन है। उसे सिद्ध करने के लिए एक आदमी से जितना हो सकता है उतना उन्होंने किया।

राष्ट्रीय शिक्षा का महत्त्व आज के भारत में वे सबसे अधिक समझते थे। इसके लिए भी उनसे जितना कुछ हो सकता था उन्होंने किया।

हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति ने भूतकाल में जो कुछ प्रयोग किये और पाया उसका सारा निचोड़ बाबू भगवानदास ने किसी-न-किसी रूप में आज के जमाने को दिया। भारतीय भूतकाल से पाने लायक और संग्रह करने लायक जितना था वह सब उन्होंने भारत को दे दिया। इस पूँजी को लेकर, इस संबल के बल पर भविष्य में हम किस रास्ते जायँ, भविष्य में भारतीय संस्कृति कौन-सा रूप पकड़े यह सब बताने का काम उनका नहीं था।

हमारे कहने का मतलब यह नहीं कि यह काम उन्होंने नहीं किया। कर्मक्षेत्र का त्याग उन्होंने नहीं किया था। भविष्य के लिए दिशा-दिग्दर्शन करने का प्रयत्न उन्होंने भरसक किया। उससे भी हमें लाभ उठाना है। लेकिन भविष्य के लिए रास्ता तय करने का भार आज के जमाने के ही सिर पर है। आज का जमाना अपने प्राचीन और मध्य-कालीन संबल को भूलकर भविष्य के लिए जो रास्ता तय करेगा उसमें

मौलिकता कम रहेगी, अनुकरणशीलता ज्यादा आयगी। फलस्वरूप काफी पछताना पड़ेगा। इस लिए जिस किसी को भी भारत का भविष्य तय करना है उसे बाबू भगवानदास के बौद्धिक, नैतिक और दार्शनिक परिश्रम से पूर्णतया परिचित होकर उससे लाभ उठाना ही चाहिये। इतनी विरासत की बुनियाद पर ही भविष्य की रचना हम आत्मविश्वास के साथ कर सकेंगे। भारत इस पूर्णायु तत्त्वदर्शी के प्रति हमेशा के लिए कृतज्ञ रहेगा। नमः परमऋषिभ्यः।

७ अक्टूबर, १९५८

२३

बालमित्र गिजुभाई

गुजरात के शक्ति-शाली शिक्षा शास्त्रियों में से एक तेजस्वी तारा टूट गया है। आज असंख्य कुटुम्बों में पारिवारिक शोक छा गया है। खेल-कूद में मस्त और फूलों के जैसा आनन्द देनेवाले बालकों की आखों में से आज दु:खाश्रु के स्रोत बह रहे हैं। बड़ी बड़ी मूछों वाले उनके प्यारे गिजुभाई के देहान्त का समाचार आज घर घर पहुँचा है। गिजुभाई देह छोड़ने पर भी कितने जीवित हैं इसका सबूत आज मिल रहा है।

जब मैं 1922 के आस पास सबसे पहले दक्षिणामूर्ति में गया तब श्री बानाभाई भट से भी अधिक गिजुभाई के साथ मेरी घनिष्ठता बढ़ी। पूर्व अफ्रिका में जाकर वकालात का धंदा करनेवाले गिजुभाई को स्फूर्ति हुई कि 'यह मेरा क्षेत्र नहीं है। मुझे तो स्वदेश जाकर शिक्षा का ही काम करना चाहिये।' उन दिनों वे गुजरात में मशहूर नहीं थे। नजदीक के मित्रों में भी उनका नाम था—गिरजाशंकर भगवानजी बधेका। मैंने ही सबसे पहले जाहिर तौर पर उनका 'गिजुभाई' नाम चलाया और अपनी रिपोर्ट में मैंने यह राय दी कि गिजुभाई एक स्वयंभू शिक्षक हैं। उस के बाद बहुत दिनों तक हमारा यही रिवाज रहा कि गिजुभाई जो कोई किताब लिखें, मुझे ही उसकी प्रस्तावना लिखनी चाहिये। बच्चों को कहानियां सुनाने का अपना एक निजी ढंग गिजुभाई ने चलाया और वे बाल-कथा के विधाता और बालकों के मित्र बन गये। उन्होंने भावनगर में एक बाल-मन्दिर खोला। शिक्षणालय के साथ 'मन्दिर'

शब्द जोड़ देने से सबको बड़ा आनन्द हुआ । गिजुभाई का उत्साह देखकर भावनगरवासी मेरे मित्र हीरालाल शाह ने पचीस हजार रुपया खर्च करके भावनगर के पास ही एक टेकड़ी पर बाल-मन्दिर बनवा दिया और गिजुभाई ने अपने उपास्य दैवत बालकों की पूजा और भक्ति वहां पर प्रारंभ की । थोड़े ही दिनों में श्रीमती ताराबहन मोडक गिजु-भाई के कार्य में शरीक हुईं । शिक्षा-शास्त्र में, शिक्षण-विषयक प्रश्नों पर चर्चा करने में और बालकों को संस्कारी बनाने की निपुणता में ताराबहन मोडक गिजुभाई से किसी कदर भी कम नहीं थी । दोनों ने मिल कर बाल-शिक्षा में एक नये युग का प्रारंभ किया । जब गिजुभाई का और मेरा प्रथम परिचय हुआ तब वे मुझसे कहते थे कि अगर आपके साथ मेरा परिचय कुछ दिन पहले हो जाता तो मैं दक्षिणामूर्ति में आता ही नहीं, आप ही के पास आ जाता । किन्तु अब तो दक्षिणामूर्ति के हाथ बिक गया हूँ । वे ही गिजुभाई अब बालमन्दिर के अतिरिक्त दक्षिणामूर्ति का विचार करना भी स्वधर्म का त्याग समझने लगे । गिजुभाई ने बालमन्दिर चलाया । उसके साथ साथ एक "शिक्षण पत्रिका" चलायी और एक अध्यापन मन्दिर भी चलाया । उस अध्या-पनमंदिर से अनेक मा-बाप और शिक्षक बाल-शिक्षा की तालीम पाकर गुजरात में फैले हुए हैं । गिजुभाई के बालमन्दिर की वंशज संस्थायें गुजरात में जगह जगह पैदा हुई हैं और इन सब ने मिशनरी के उत्साह से बालशिक्षा का एक नया तंत्र गुजरात भर में फैलाया है । अपनी "शिक्षण-पत्रिका" का हिन्दी संस्करण इन्दौर से छपवा कर गिजुभाई ने गुजरात से बाहर भी अपना सन्देशा फैलाया है ।

गिजुभाई को मैंने स्वयंभू शिक्षाशास्त्री जाहिर तो किया । किन्तु उन्होंने थोड़े ही दिनों में अपनी निष्ठा बाल-माता ब्रह्मचारिणी माँटेसोरी को अर्पण की और अन्त तक उनकी वही निष्ठा कायम रही । शिक्षा के पैगंबर होने का उनका अधिकार था; उसे छोड़कर वे आचार्य बने और आचार्य की हैसियत से उन्होंने अपना जीवन कार्य पूरा किया ।

"शिक्षण पत्रिका" के द्वारा ताराबहन के साथ गिजुभाई ने बालकों

के शिक्षकों को, मां-बाप को और प्रौढ़ बालकों को भी लगातार कई वर्षों तक जो नसीहत दी है उनके उस कार्य का स्मरण तमाम गुजरात की जनता को बहुत दीर्घ काल तक रहेगा। गुजरात की एक या दो पुश्तें गिजुभाई के प्रभाव में बढ़ी हैं।

गिजुभाई के मन में गांधीजी के प्रति भक्ति थी। उन्होंने खादी धारण की वह अन्त तक कायम रक्खी। गांधीजी के आश्रम के प्रति उनके मन में आदर था। किन्तु आश्रम के आदर्श के साथ, आश्रमी जीवन के साथ उनकी सहानुभूति बहुत कम थी। बालस्वातंत्र्य की और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की उनकी कल्पना कुछ भिन्न थी। अपने कार्य की लगन में खानपान और जीवन की नियमितता की उन्हें लगन नहीं थी। इस लिये ईश्वर का दिया हुआ सुदृढ़ शरीर उन्होंने कमजोर कर डाला। और निसर्ग ने उनकी लापरवाही का बदला ले लिया।

शिक्षा में गिजुभाई जितने क्रान्तिकारी थे उतने कौटुम्बिक और सार्वजनिक जीवन में वे क्रान्तिकारक नहीं थे। अपनी सारी तेजस्विता शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने खपा दी। इसीलिए शायद अन्य क्षेत्रों के लिये उनके पास वही तेजस्विता रही नहीं।

गुजरात ने उनके जीते-जी उनके कार्य की काफी कद्र की है। किन्तु उनकी शक्ति और प्रतिभा की कद्र गुजरात से भी अधिक की श्री नानाभाई भट ने। गिजुभाई जो कुछ मांगते थे वह नानाभाई उन्हें दे देते थे। गिजुभाई स्वयं कहते थे, "धन लाने का काम नानाभाई का है। उसे बिना सोचे उड़ाने का काम हमारा है। नानाभाई मानों कुटुम्ब-संस्थापक हैं और हम तो बड़े बाप के बेटे हैं।" गिजुभाई का आत्मविश्वास जबरदस्त था। आगे चलकर वे अपनी और अपने कार्य की कद्र करना भी सीख गये थे। गिजुभाई का बालमन्दिर, उनका अध्यापनमन्दिर, उनका शिष्यवृन्द, यह गिजुभाई की चतुर्विध सृष्टि थी। इनमें से भी गिजुभाई का शिष्यवृन्द ही गिजुभाई की गुजरात को और शिक्षाकार्य को बड़ी देन है। मेरी एक छोटी सी सिफारिश है कि गिजुभाई के देहान्त के उपलक्ष में उनके सब शिष्यों को और बालमन्दिरों

के प्रतिनिधियों को किसी अच्छे स्थान पर इकट्ठा होकर बालशिक्षकों का एक बन्धुमंडल स्थापित करना चाहिये और गिजुभाई का कार्य आगे बढ़ाना चाहिए। गिजुभाई के कार्य में सुधार हो ही नहीं सकता ऐसा समझ कर उनके अक्षरों की अगर वे पूजा करने लगेंगे तो वह बुत-परस्ती होगी, श्राद्ध नहीं होगा। गिजुभाई से जो प्रेरणा उन्हें मिली है उसमें अपना अनुभव मिला कर उन्हें शिक्षा की ज्योत अखण्ड रखनी चाहिए।

शिक्षा साहित्य में गिजुभाई की सेवा कम नहीं है। वे बिलकुल सादी और असरकारी शैली लिखते थे। शब्दों को नये नये रूप देकर भाषा शक्ति को बढ़ाने में उन्हें दिलचस्पी थी। अक्षरज्ञान के प्रचार के लिये भी उनमें काफी उत्साह था। अपने एक कार्य का अखण्ड आजीवन ध्यान करके वे बाल-शिक्षा के आद्य आचार्य बन गये। दक्षिणामूर्ति, बाल-मन्दिर, अध्यापनमन्दिर, बालसाहित्य और शिक्षण पत्रिका, इतनी चीजें गिजुभाई छोड़ गये हैं। जिसकी जैसी शक्ति हो उसके अनुसार वह एक एक विभाग को सम्हालने के लिये तैयार हो जाये।

गिजुभाई के परिवार को और उनके प्रोत्साहक मित्र नानाभाई को हम क्या आश्वासन दे सकते हैं? जो कुछ सत्कार्य उन्होंने किया है उसका नाश तो कभी होनेवाला है ही नहीं।

२३-६-३९

——

२४

आदर्श आचार्य नानाभाई

सौराष्ट्र के, बल्कि गुजरातके एक समर्थ निष्ठावान शिक्षाशास्त्री श्री नृसिंहप्रसाद कालिदास भट्ट एक ब्राह्मण वृत्ति के तत्वनिष्ठ और व्यवहार-कुशल, तेजस्वी अध्यापक थे। गांधीयुग में जो राष्ट्रीय शिक्षा का ठोस काम हुआ उस में आचार्य भट्ट मेरे बड़े भाई थे। हम सब उन को नानाभाई कहते थे। सारा गुजरात भी उन्हें नानाभाई के नाम से ही पहचानता आया है। शास्त्रनिष्ठा, रूढ़िनिष्ठा और गुरुशुश्रूषा के सनातन आदर्शों में पले हुये नानाभाई की आत्मनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा ऊपर की सब निष्ठाओं से अधिक प्रभावी साबित हुई और उन्हों ने अपने जीवन में नई-नई उन्नति ही साध ली। प्रथम कॉलेज में इतिहास के अध्यापक का काम करते हुये उन्होंने एक छात्रालय चलाया, जिसमें ब्राह्मणी आदर्श सजीवन रूपसे पाले जाते थे। धीरे-धीरे उस छात्रावास का विकास होकर उसने दक्षिणामूर्ति विद्यालय का रूप धारण किया और गांधीजी के प्रभाव के कारण वह विद्यालय पूरा-पूरा राष्ट्रीय बना और पश्चिमके नये-नये विचारों को आजमाने का वह एक प्रयोगालय भी बना। जबसे दक्षिणामूर्ति विद्यालय गांधीजी के प्रभाव के नीचे आ गया, मेरा उस संस्था के साथ सम्बन्ध बढ़ता गया।

नानाभाई को शुरू से साथी भी अच्छे मिले। उन में श्री गिजुभाई बधेका ने बाल-शिक्षाका क्षेत्र पूरे तौरपर अपनाया और श्रीमती तारा-बाई मोडक का सहयोग पाते ही उस काम को एक तरह से उन्हों ने गुजरातव्यापी बनाया। बाल-शिक्षा का नया आदर्श आज सारे गुजराती

समाज में दृढ़मूल हो गया है और लोग उसका महत्त्व अच्छी तरह से पहचान चुके हैं।

प्रगति और स्थैर्य दोनों तत्त्वों की एक साथ उपासना करना यही है शिक्षा का उत्कृष्ट आदर्श। दक्षिणामूर्ति ने प्रयोग के ऊपर भार अधिक दिया। फलतः नानाभाई को उस संस्था का विसर्जन करना पड़ा। नानाभाई और उनके साथियों की अनेक वर्षों की तपस्या का विसर्जन हुआ। लेकिन नानाभाई हृदय से अपराजित थे। गांधीजी के प्रभाव का उनपर गहरा असर हुआ इसलिये उन्हों ने एक छोटे गाँव में जाकर वहींसे ग्रामशिक्षा का प्रारम्भ किया। और वह भी उस के श्रीगणेश से। याने प्रारम्भिक सब की सब कठिनाइयों का सामना करते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़े।

नानाभाई ने अपने जन्मक्षेत्र का और स्वभाव का त्याग नहीं किया था। जिस समाज में उनका जन्म हुआ, जिस समाज से उन्होंने अपने संस्कारों का पोषण लिया उसी समाज की भाषा की सेवा करते उन्हें असाधारण सफलता मिली। उनकी ग्राम दक्षिणामूर्ति संस्था फुली, फली और अपने नये-नये साथियों की मदद से उन्होंने 'लोक भारती' नाम का एक विद्यापीठ—युनिवर्सिटी चलाने की हिम्मत की। प्रथम सर प्रभाशंकर पटनी जैसे और बादमें श्री ढेबरभाई जैसे राजनीतिक नेताओं ने नानाभाई के कार्य की महत्ता पहचान ली और उन्हें हर तरह की मदद की।

नानाभाई अच्छे शिक्षाशास्त्री तो थे ही। भारतीय संस्कृति के विशाल-व्यापक स्वरूप का उन्हें दर्शन हुआ था। वाणी और लेखनी के द्वारा समाज की सांस्कृतिक उन्नति करना यह भी उनका एक जीवन-कार्य था। रामायण, महाभारत और भागवत जैसे हमारी संस्कृति के अमर ग्रन्थों के साथ उनका अच्छा परिचय था। इन ग्रन्थों का दूध या मक्खन जनता तक पहुँचाने का सुन्दर काम नानाभाई ने किया।

स्वराज्य पाते ही सौराष्ट्र में नवजीवन का एक तेजस्वी संचार हुआ

था। सौराष्ट्र सरकार के द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार व्यापक रूप से करने की उम्मीद रखकर नानाभाई ने सौराष्ट्र सरकार के मन्त्रि-मण्डल में स्थान ले लिया। लेकिन उन्होंने देखा कि सरकारें नाम भले गांधीजी का लें, किन्तु अंग्रेजी अमल के कारण जो रूढ़ि समाज में दृढ़मूल हुई उससे निकल आने की शक्ति या इच्छा समाज में नहीं है। नानाभाई ने स्वराज्य सरकार के द्वारा सांस्कृतिक स्वराज्य स्थापन करने की आशा छोड़ दी और अपनी 'लोक भारती' की सेवा एकाग्रता से चलायी।

जिस तरह नानाभाई की दक्षिणामूर्ति में शुरू२ में मैं ओत-प्रोत हुआ था उसी तरह हमारे गुजरात विद्यापीठ के साथ नानाभाई कुछ कालके लिये ओत-प्रोत हो गये थे और मेरे पहले वे ही गुजरात विद्यापीठ के कुलनायक (Vice Chancellor) रहे थे। जब गांधीजी ने नानाभाई को कुलनायक बनाया तब नानाभाई ने नम्रता और आत्मविश्वास के साथ कहा कि, "यह गांधीजी का ही प्रभाव है कि—'**अश्मापि याति देवत्वम्**'।"

इन दिनों नानाभाई का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। उनकी उम्र अस्सी से अधिक हो गयी थी। श्री मनुभाई पंचोली जैसे उनके समर्थ साथी उनका काम अच्छी तरह से चलाते थे। और नानाभाई के लिये आनन्द के साथ अपनी संस्था का विकास देखते रहने का ही कर्तव्य बाकी रहा था। लेकिन भगवान को नानाभाई की उन्नति में तनिक भी कचास नहीं रखनी थी। जब वे ८० साल के थे, एक जवान और कार्य-कुशल पुत्र का वियोग उन्हें सहन करना पड़ा। दुःख की भयानक मात्रा के बिना मनुष्य का जीवन-दर्शन पूरा नहीं होता।

करीब एक साल हुआ मैं सणोसरा जाकर नानाभाई का पुण्यदर्शन पाने का सोच रहा था। एक दफे सौराष्ट्र जाने का पूरा कार्यक्रम भी बनाया था। लेकिन वह चीज होने की नहीं थी। बात रह गयी। और अब नानाभाई का दर्शन इहलोक में मैं नहीं कर सकूंगा इतना ही विषाद मन में रहा है।

भारत में अध्ययन-अध्यापन के सनातन आदर्श को जीवित रखने

का भार जिन के सिरपर था और जो प्राचीन आदर्श और नई उमंगें दोनों का समन्वय कर सकते थे ऐसे शिक्षा-शास्त्रियों का एक समर्थ प्रतिनिधि अपनी सारी तपश्चर्या को आशीर्वाद देता हुआ इहलोक से चला गया है। इहलोक तो नानाभाई ने छोड़ा। लेकिन लोकभारती के लिये और सारे गुजरात के लिये प्रेरणारूप वे दीर्घकाल तक जीवित रहेंगे। इतनी एकनिष्ठ तपस्या व्यर्थ नहीं जायेगी। आखिरकार तपस्या ही सर्वसमर्थ है—'तपो हि दुरतिक्रमम्।'

१५ जनवरी १९६२

२५

श्री बलवन्तराय मेहता :

आश्रम में जब गांधीजी ने एक राष्ट्रीय शाला चलाने का तय किया तब श्री नरहरिभाई परीख, किशोरलाल मश्रुवाला, पोपटलाल :भाई और ऐसे ही चन्द तरुण उसमें शरीक हुए। श्री विनोबा भावे बाद में आकर शरीक हुए। संस्कृत का अध्ययन करने के लिए वे वाई की प्राज्ञ पाठशाला में गये थे।

हमारी शाला में भूपतभाई मेहता नाम के एक शिक्षक आये थे। हम लोगों ने गर्मी की छुट्टी का कार्यक्रम बनाया, अहमदाबाद से माउण्ट आबू तक पैदल हो आने का। कई विद्यार्थी, अध्यापक और एक-दो इतर स्नेही मिलकर हम अपना असबाब पीठ पर बाँधकर निकले। बड़ा विविध और अद्भुत था वह अनुभव। श्री विनोबा उसमें थे ही। लेकिन एक सिन्धी स्नेही और भूपतभाई के भाई बलवन्तराय मेहता भी हमारी टोली में थे। उन दिनों वे भावनगर में विद्यार्थी थे। मैंने देखा कि वे भूपतभाई से अनेक गुने तेजस्वी, बुद्धिमान और मिलनसार थे। भूपत-भाई से हमारा मतभेद होने से उसका असर बलवन्तराय भाई के रहन सहन पर नहीं होता था। इस विशेषता के कारण मेरा उनका अच्छी तरह से बन सका।

तीन सौ मील की उस छोटी-सी पैदल यात्रा का बयान बड़ा रोचक होगा। किसी दिन सारा लिखने लायक है।

बलवन्तराय भाई को तो मैं भूल ही गया। लेकिन जब भावनगर के दक्षिणामूर्ति विद्यालय के साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध बन गया तब बलवन्तराय भाई फिर से मेरे परिचय में आये। लेकिन उसमें कोई घनिष्ठता नहीं थीं। उनका सारा मण्डल रजवाड़ी राजनीति के साथ दो हाथ करने पर तुला हुआ था। गांधीजी कहते थे कि इन छोटे-मोटे राजाओं से क्या लड़ रहे हो? अंग्रेजों को ठीक करेंगे तो ये सारे राजा लोग और उनका मुत्सद्दीवर्ग आप-ही-आप ठीक होने वाला है। सौराष्ट्र के तुम लोग मेरा रचनात्मक कार्यक्रम सिद्ध कर बताओ और सौराष्ट्र की भूमि को आजाद करने का जिम्मा मैं अपने सिर लेता हूँ। इन राजाओं से लड़ने में अपनी शक्ति का दुर्व्यय मत करो। वे हैं अंग्रेजों के अंकित, पोलिटिकल एजेण्ट से डरकर चलने वाले। उनकी निजी शक्ति कितनी?

श्री बलवन्तराय मेहता जैसे तेजस्वी और रजोगुणी नवयुवकों को गांधीजी की नसीहत कैसे मान्य हो सकती थी? गांधीजी के प्रति असीम आदर तो उनमें था ही। अब गांधीजी का जन्म भी काठियावाड़-सौराष्ट्र का। राजाओं की चालबाजी से दोनों एक-से वाकिफ।

किसी समय गांधीजी की और बलवन्तराय मेहता की अच्छी मुठ-भेड़ हुई। गोंडल में एक राजनैतिक परिषद होने वाली थी। वहाँ के राजा ने उसमें काफी दिलचस्पी ली थी। साहित्य सेवक के तौर पर उनका बोलबाला भी काफी था। गोभक्ति के लिए भी वे मशहूर थे।

ऐसे राजाओं को गांधीजी से प्रतिष्ठा मिले यह नवयुवकों को पसन्द नहीं था। उन्होंने बराबर उसी समय उसी स्थान पर नवयुवकों की एक परिषद बुलाई। उद्दाम नवयुवकों की परिषद चलने देना राजा के लिए अनुकूल नहीं था। और उसे मना करने का हुक्म जारी किया जाता तो गांधीजी कैसे सहन करते? एक तरफ गोंडल के राजा, दूसरी ओर बलवन्तराय भाई का युवक मण्डल और दोनों के बीच सौराष्ट्र की चाल-बाजियाँ अच्छी तरह जानने वाले काठियावाड़ी महात्मा गांधी। एक सारा दिन जो बातें चलीं और एक दूसरे को मात करने की खूबियाँ

आजमाई उसके बारे में मन में गुस्सा भी आता था और उसके बारे में आदर भी रहता था।

जब किसी तरह बलवन्तराय समझौते के लिए तैयार न हुए तब गांधीजी ने कहा, "मैं जानता हूँ कि हमारी चोटी तुम्हारे हाथ में आयी है, जितनी खींचनी है, खींचो, मौका है।" यह थी गांधीजी की आखरी अपील। मैं मानता था कि इसके सामने बलवन्तराय अपनी जिद्द छोड़ देंगे। लेकिन नहीं, इस अपील का भी असर नहीं हुआ। लेकिन गांधीजी इस तरह छोड़ने वाले नहीं थे। गांधीजी ने सौराष्ट्रीय राजा और सौराष्ट्रीय नवयुवकों के बीच समझौता करके ही दिखाया।

जो हो, बलवन्तराय भाई सौराष्ट्र के नवोदित शक्ति के प्रतिनिधि बन चुके।

स्वराज का वायुमण्डल बढ़ता गया। सरदार वल्लभ भाई पटेल और महात्मा गांधी को सौराष्ट्र की राजनीति की ओर ध्यान देना पड़ा। बड़ा लम्बा-चौड़ा और जटिल है वह सारा किस्सा।

इस सारे आन्दोलन में एक नई शक्ति का उदय हुआ। वे थे श्री उछरंगराय ढेबर। सौराष्ट्र के बनिये, सौराष्ट्र के नागर ब्राह्मण और सौराष्ट्र के राजवी, पता नहीं, कौन किसे मात करे? लेकिन इनमें समय पहचानकर समझौता करने की भी शक्ति कम नहीं है। सारे गुजरात का वर्तमान-कालीन राजनैतिक इतिहास अभी तक पूरा नहीं लिखा गया। लेकिन सौराष्ट्र का अलग इतिहास भी लिखना जरूरी है। सौराष्ट्र की खासियतों में से मानव जाति का चारित्र्य उज्ज्वल करने वाले तत्त्व ढूँढ निकालना गांधीजी का ही काम था। गांधीजी के सत्याग्रह के स्वरूप को पहचानना हो तो सौराष्ट्र के राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास को गहराई से समझना होगा। गांधीजी को यथाशक्ति परास्त करने वाले व्यक्ति कायदे आजम मुहम्मदअली जीना और राजकोट के राजमन्त्री वीरावाला ये दोनों काठियावाड़ के याने सौराष्ट्र के थे।

स्वराज्य जब नजदीक आया तब श्री ढेबरभाई, श्री बलवन्तराय भाई और मेरे राष्ट्रीय शिक्षा के साथी नानाभाई भट्ट मिलकर काम

करने लगे। जब स्वराज्य हुआ तब ढेबरभाई मुख्यमन्त्री हुए। बलवन्त-राय मेहता गृहमन्त्री और नानाभाई भट्ट शिक्षा मन्त्री। दूसरे भी सुयोग्य मन्त्री थे, जिनका जिक्र यहाँ नहीं करूँगा।

आगे जाकर इन लोगों ने देखा कि मन्त्री बनने से लोक सम्पर्क कुछ टूट जाता है इसलिए सर्वानुमति से बलवन्तरायभाई ने गृहमन्त्री पद का इस्तीफा दिया। श्री नानाभाई भट्ट ने देखा कि सरकारी तन्त्र के द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा जानदार नहीं बन सकती इसलिए वे भी निकल गये। आगे जाकर जब सौराष्ट्र, कच्छ और खण्डस्थ गुजरात का विशाल एकम बना तब श्री ढेबरभाई अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष बने और आज वे ब्राह्मणोचित स्वराज की सेवा करने के लिए खादी, गोरक्षा, आदिवासियों की शिक्षा आदि प्रवृत्तियों को राष्ट्रीय रूप दे रहे हैं।

श्री बलवन्तराय मेहता सौराष्ट्र छोड़कर दिल्ली आये। पार्लियामेंट के सदस्य बने। अनेक कमेटियों में गहरा काम कर उन्होंने अपनी योग्यता का परिचय दिया। भारतवासी और खासकर के गुजराती "प्रवासी" पूर्व अफ्रिका, दक्षिण अफ्रिका, मेडागासकर, मोरीशस आदि स्थानों पर जा बसे हैं यह देखकर बलवन्तराय भाई ने अफ्रिका की राज-नीति में काफी दिलचस्पी ली। इंडियन कौन्सिल फॉर कल्चरल रिले-शन्स वाली निमसरकारी संस्था में हम दोनों ने काफी दिलचस्पी ली। बलवन्तराय भाई ने एक अफ्रिकन सोसायटी की स्थापना की उसमें मुझे खींचा। गांधी-स्मारक निधि का जो काम मैंने छोड़ दिया था, बलवन्त भाई ने उठाया।

उनका मेरा आखरी सहयोग साहित्यिक क्षेत्रों में था। रेडियम का क्रांतिकारी आविष्कार करने वाले दम्पती मोंशिअर और मैडम क्युरी का जीवन-चरित्र उनकी लड़की इह्वा ने लिखा है। एक ही परिवार में तीन-तीन, चार-चार नौबेल प्राइज पाने का त्रिक्रम दुनिया में और किसी ने नहीं किया होगा। मैडम क्युरी की जीवनी का अनुवाद श्री बलवन्त-राय भाई ने गुजराती में किया। उसके लिए आमुख या भूमिका उन्होंने

मुझसे मांगी। मैं समझ नहीं सकता कि उन्होंने अपने अनुवाद के लिए एक अच्छी-सी भूमिका श्री लालबहादुर शास्त्रीजी से क्यों नहीं माँगी? शास्त्रीजी ने भी मादाम क्युरी की जीवनी का हिन्दी अनुवाद किया है।

जो हो, मैंने खुशी से बलवन्तराय भाई की किताब की भूमिका लिख दी।

श्री बलवन्तराय भाई चाहते तो अखिल भारतीय और जागतिक राजनीति में भी अच्छा हिस्सा ले सकते। लेकिन उनको गुजरात की ही उत्कट सेवा करनी थी। वहाँ डॉ० जीवराज मेहता गुजरात की कार्यधुरा का वहन अच्छी तरह कर रहे ही थे। एक म्यान में—खड्ग कोश में—दो तलवारें कैसे समा सकती हैं? श्री जवाहरलालजी ने डॉ० जीवराज को भारत के राजदूत बनाकर विलायत भेजा और गुजरात का कारोबार श्री बलवन्तराय भाई ने संभाला।

श्री बलवन्तराय भाई मेहता सच्चे प्रजा सेवक थे। उच्च कोटि के राष्ट्रभक्त तो थे ही, हर सवाल में गहराई में उतरकर, प्रजाहित को ख्याल में रखकर हरएक उलझन को सुलझाने की शक्ति उनमें थी। पाकिस्तान के आक्रमण का सामना करने के लिए गुजरात को संगठित करने की शक्ति उनमें असाधारण थी। उनके हवाई जहाज को तोड़कर और उनका सपत्नीक बलिदान लेकर पाकिस्तान ने उससे हो सके ऐसी ही उनकी कदर की है। वीरमृत्यु पाना भाग्यशाली को ही नसीब होता है। उनका स्मरण करना राष्ट्र का कर्तव्य है।

१ दिसम्बर, १९६५

२६

गांधी युग का दर्शनशास्त्री

पण्डित सुखलालजी संघवी की कुशाग्रबुद्धि और सर्वगामी विद्वत्ता के बारे में सब जानते हैं। भारतीय तत्त्व-ज्ञान विषयक उनका प्रभुत्व असाधारण है।

उनका मेरा परिचय ३०-३४ बरस का है। इतने दीर्घकाल में मैंने उनकी वाणी में या आचरण में अनुदारता का कहीं लवलेश नहीं देखा। न पक्षपात देखा, न संकुचितता। दृष्टि होने पर भी जिनमें अदेखी पाई जाती है ऐसे लोग मैंने देखे हैं। ऐसे लोगों के प्रति सुखलालजी ने हमेशा शान्ति ही धारण की है।

क्षान्त्यैवाक्षेप-रुक्षा-क्षर-मुखर-मुखान् दुर्मुखान् दूषयन्तः।

(आक्षेप यानि निन्दा के रुक्ष कठोर शब्दों के द्वारा जिनकी वाणी मुखर यानि वाचाल हुई है ऐसे दुर्मुख दुर्जनों का प्रतिवाद संतजन केवल अपनी 'क्षमा' के द्वारा ही करते हैं) उनकी ऐसी वृत्ति के कारण सुखलालजी के प्रति आदर बढ़ता ही गया है।

बाल्यकाल में ही शीतला के कारण सुखलालजी ने दृष्टि खोई। दृश्य जगत् उनके लिए भासमान हुआ। इससे और गृहस्थाश्रम न करने से जीवन में दो महत्त्व की खामीयाँ होते हुये भी उनका जीवन-दर्शन या जीवनानुभव अधूरा नहीं है। यही बताता है कि जिनके पास सूक्ष्म

बुद्धि है, उदार हृदय है और परिश्रमशील जीवननिष्ठा है, उनकी जीवनानुभूति में कमी रहने का कारण नहीं।

विद्वानों में जब पक्षपात, संकुचितता, क्रोध अथवा लोभ प्रवेश करता है तब वे आत्मनिष्ठा खोते हैं और उन्हें कदम-कदम पर शरमिंदा होना पड़ता है। सुखलालजी हमेशा निराग्रही और निस्पृही रहे हैं इसलिए उन्होंने अपनी तेजस्विता कभी नहीं खोई। जैन साधुओं को उनकी इस तेजस्विता का अच्छा परिचय है।

ऐसे परिणतप्रज्ञ सत्पुरुष से हम दो ही चीजों की अपेक्षा करते हैं। एक—वे अपना विस्तृत आत्मचरित्र लिखें। दूसरा—भारतीय दर्शन-राशि के निचोड़ रूप एक सर्वसमन्वयकारी दर्शन-ग्रन्थ हमें दें, जो भारतीय तत्त्वप्राप्ति के प्रयासों के लिए नव प्रस्थान रूप सिद्ध हो। और दुनिया जिस नवजीवन की रचना करने जा रही है उसके लिए एक नींव के जैसा बन जाये।

गांधी युग के दर्शन-शास्त्री का ही यह काम हैं।

२६-२-५७

२७

स्वाधीन शिक्षा के आचार्य

—नरेंद्र देव

आचार्य नरेन्द्र देव बौद्ध धर्म, बौद्ध साहित्य और एतिहासिक बौद्ध पर्व के प्रकांड पंडित थे। बौद्ध धर्म और वेदान्त धर्म की बुनियाद पर अगर कोई समाजरचना की जाये तो उसमें समाजसत्तावाद के सब शुभ लक्षण आ ही जाते हैं। आश्चर्य नहीं कि नरेन्द्र देवजी को आधुनिक समाजसत्तावाद पसन्द आया।

आचार्य नरेन्द्र देव स्वाधीनता के लिए प्राणपण से लड़ने वाले भारत के आचार्य थे। काशी विद्यापीठ के द्वारा उन्होंने जो शिष्यवृन्द तैयार किया है, वही उनकी देश के लिए उत्तम देन है। बुद्ध भगवान को जो आर्यवृत्ति पसन्द थी वही आचार्य नरेन्द्र देव में पाई जाती थी। ऐसे एक आर्य आचार्य ने अपना सेवामय जीवन पूरा किया। अब वे कृतज्ञ भारत की श्रद्धांजलि के अधिकारी हैं।

फरवरी १९५६

२८

राजरत्न प्रो० माणिकराव

व्यायाम-विद्या की उपासना, अस्थि-संधान-कला द्वारा मरीजों की सेवा, और स्वयंसेवकों की सेना के संगठन द्वारा मौके-मौके पर समाज की सेवा, इस त्रिवेणी ग्रथन पर प्रो० माणिकराव की विभूति निर्भर है। १९१० से मैं देखता आया हूँ कि प्रो० माणिकराव अनन्य निष्ठा से और एकाग्र लगन से यही काम करते आये हैं।

प्रो० माणिकराव की व्यायाम-शाला का जुम्मादादा यह मुसलमानी नाम देखकर प्रथम मुझे अचम्भा हुआ। मैंने उन्हीं से पूछा और उन्हीं के मुँह से उनके गुरू श्री जुम्मादादा के दृढ़व्रती जीवन का हाल मैंने सुना। जहाँ उच्च चारित्र्य है, वहाँ जाति-भेद, धर्म-भेद और भाषा-भेद सब विलुप्त हो जाते हैं।

प्रो० माणिकराव ने प्राचीन मल्लविद्या का केवल रक्षण ही नहीं किया है बल्कि उसे आधुनिक रूप देकर वर्तमान युग के अनुकूल बना दिया है। स्वामी विवेकानन्द और सर राधाकृष्णन् ने हिन्दू तत्त्वज्ञान का श्रेष्ठत्व सिद्ध किया। कविवर रवीन्द्र ने भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा बढ़ायी। श्री उदयशंकर ने भारतीय नृत्यकला के गौरव से दुनिया को परिचित कराया। गांधीजी ने हिन्दुस्तान जैसे पतित राष्ट्र का उत्थान करा के विश्व के दरबार में उसे स्थान दिलाया। इन सब की इस सफलता का कारण उनकी भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी श्रद्धा है। हमारी देश की संस्थाओं का और समाज व्यवस्था का प्राण जब फिर से जाग्रत होगा तब, बाबू भगवानदास की दृष्टि से, हम पूरा लाभ उठा सकेंगे। भारतीय व्यायाम-पद्धति के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रख के उसी की अनन्य उपासना करने वाले व्यायाम-धुरंधर माणिकराव की सेवा इसी कोटि की है।

"इक साधै सब सधै" वाला सूत्र ध्यान में रखकर प्रो० माणिकराव ने अपना सारा जीवन व्यायाम-विद्या को ही अर्पण किया है, और उसमें अद्वितीय प्रवीणता हासिल की है। परन्तु मेरे ख्याल से उनकी श्रेष्ठता इस अद्वितीयता में नहीं है। हजारों शिष्यों को तय्यार करके उन्होंने अपनी संस्था की जो शाखा-प्रशाखाएँ देश को अर्पण की हैं उसी में उनकी महत्ता है। जो काम संगीत में पं० विष्णु दिगंबर ने किया, वही व्यायाम-विद्या के लिए प्रो० माणिकराव अधिक दक्षता से कर रहे हैं। सर्वांगीण उन्नति को मानने वाले माणिकरावजी ने इस बात का प्रथम से ही आग्रह रक्खा है कि उनके शिष्य विद्या-निपुण, सेवा-परायण और संस्कार-संपन्न भी हों। साहित्य-सेवा, विद्या की उपासना, राजकीय जाग्रति और समाज-सेवा आदि सब क्षेत्रों की माणिकरावजी ने हमेशा कद्र की है। संघ-व्यायाम के संगठन द्वारा उन्होंने भारतीय व्यायाम की जो सेवा की है उसका महत्व-मापन भविष्य में ही होगा। योग विद्या के अनुशीलन और प्रचार के लिए विख्यात श्री कुवलयानन्द, भाऊसाहब माणिकराव के ही एक शिष्य हैं, इतना कहने से माणिकराव के कार्य विस्तार का खयाल आ जायगा।

व्यायाम-विद्या के प्रचार में भाऊसाहब स्त्री जाति को भूले नहीं हैं यह उनकी एक विशेषता है। सार्वजनिक सेवा का उनका आदर्श बहुत ही ऊँचा है। उनकी कार्यक्षमता असाधारण है। नम्रता और निःपृहता के कारण उनका व्यक्तित्व हमेशा खिल उठता है। टूटी हुई हड्डियों को सांधने की कला में निष्णात होने के कारण दूर-दूर के लोग उनके पास आते थे। जब १९२७ में गुजरात में बड़ी बाढ़ आयी थी तब माणिकरावजी ने और उनकी सेवा-सेना ने लोगों की जान बचाने का जो असाधारण वीरकर्म किया उससे तो इस राष्ट्रपुरुष की पहचान गुजरात के घर-घर में हुई है। स्वतंत्र भारत में ऐसे नरवीर के लिए कोई भी स्थान अत्युच्च नहीं गिना जायगा। हम इतनी ही आशा करते हैं कि ऐसा अत्युच्च स्थान पाने तक परमात्मा उन्हें दीर्घायु दें।

३०-११-३८

२६

पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर

मैं पूना के फर्ग्युसन कॉलेज में पढ़ रहा था। विद्यार्थियों के वार्षिक स्नेह सम्मेलन में हम लोगों ने पण्डित विष्णु दिगम्बरजी को बुलाया था। १९०५ ई० के करीब की यह बात है। उनका आदर-आतिथ्य करने का सौभाग्य हमारे मित्र-मण्डल को मिला था। हमने देखा कि पण्डितजी पान तक नहीं खाते। हमने पूछा, "पान से आपको परहेज है?" उन्होंने कहा, "पान खाना मुझे अच्छा नहीं लगता सो बात नहीं, लेकिन जब भगवान् की कृपा से मुझे यह संगीत का वरदान मिला है तब मुझे हर तरह के व्यसन से दूर रहना चाहिये। संगीत के उपासकों ने व्यसन में डूबकर संगीत का जो द्रोह किया है उसके लिए प्रायश्चित करने के दिन आये हैं।"

और लोगों से मैंने सुना कि पण्डितजी के लाहौर के गान्धर्व महाविद्यालय में शुद्ध आचार का बड़ा ही आग्रह रखा जाता है।

ऐसी ऐसी बातें सुनकर पण्डितजी के प्रति मन में आदर-भाव पैदा हुआ। उस दिन हमारे सम्मेलन में पण्डितजी ने रामदास का एक श्लोक "मना सज्जना भक्ति-पन्थेंचि जावें" अनेक रागों में गाकर सुनाया। उनकी पहाड़ी आवाज़, संगीत कला पर उनका प्रभुत्व, स्वर का माधुर्य और चरित्र की शुद्धता, सब चीजों का ऐसा उत्कृष्ट असर हुआ कि विद्यार्थी और अन्य श्रोतागण तल्लीन तो हुए ही, लेकिन सब के मन में यह दृढ़ हुआ कि संगीत कोई विलास की चीज़ नहीं है; यह भी ईश्वर-भक्ति का एक प्रकार है।

तब से पण्डित विष्णु दिगम्बरजी की तारीफ़ ही तारीफ सुनता आया हूँ और जब-जब उन्हें मिला उनके बारे में आदर बढ़ता ही गया।

जब गांधीजी ने साबरमती में आश्रम खोला, तब उन्होंने कहा कि संगीत के बिना आश्रम-जीवन अपूर्ण है। मैंने कहा संगीत और चरित्र-शुद्धि इनका मेल हमें गान्धर्व महाविद्यालय में ही मिल सकेगा। आश्रम के योग्य संगीत-शास्त्री हमें वहीं से मिलेंगे। आश्रम के व्यवस्थापक श्री मगनलालभाई गांधी बम्बई गये और वहाँ से श्री नारायणराव खरे को ले आये। उनके आने से आश्रम में ही नहीं, समूचे गुजरात में संगीत के विकास और विस्तार का जमाना शुरू हुआ। उत्तर भारत का हिन्दुस्तानी संगीत और गुजरात का लोक-संगीत दोनों में मानो बड़ी बाढ़ आई। लोग नारायणराव खरे को अपने वहाँ बुलाने लगे। बड़ी तनख़ाह देने का प्रलोभन भी उन्हें दिखाया गया। उन्होंने कहा: 'मैंने आश्रम-जीवन अपनाया है। गांधीजी को छोड़कर मैं कहीं नहीं जाऊँगा।' नारायणराव खरे ने अपने अन्य गुरु-भाइयों को गुजरात में बुलाया और जितने भी उनके भाई आये सब ने अपने सदाचार से सारे समाज को सन्तुष्ट किया और उच्च संगीत सर्वत्र फैलने लगा।

पं० पलुस्करजी ने बम्बई के गान्धर्व महाविद्यालय के लिए बड़ा मकान बनाया। उसके खर्चे के बोझ से वे कभी भी मुक्त नहीं हुए। दोष उनका नहीं था। ऐसा एक मकान बाँधकर उन्हें मुफ्त भेंट देने का समाज का कर्तव्य था। पण्डितजी की संगीत विद्या से समाज ने काफी लाभ उठाया। लेकिन उन्हें चिन्तामुक्त नहीं किया। समाज के लिए यह शर्म की बात है। जब पण्डितजी ने देखा की उनकी सब योजनाएँ सिद्ध नहीं हो रही हैं तब उन्होंने रामनाम को ही आधार माना और नासिक में भगवान् के भरोसे संगीत विद्या की उपासना निष्ठा से चलाई। उनकी ईश-भक्ति और संगीत भक्ति की जो कठिन कसौटी हुई उसमें वे उत्तीर्ण हुए। कसौटी में हार गया समाज।

उसके बाद भी मैं पण्डित विष्णु दिगम्बर से एक दफ़ा मिला था।

उनमें तनिक भी कटुता नहीं दीख पड़ी। वे अपनी उपासना में तल्लीन थे। उन पर संगीत के रंग के साथ गेरुआ रंग भी चढ़ गया और उनकी उपासना उज्ज्वलतर हो गई।

पण्डित विष्णु दिगम्बर के कण्ठ से जो संगीत सुना वह सचमुच गन्धर्वों का ही संगीत था। ऐसा संगीत सुनने को आसानी से नहीं मिलता है। उम्मीद यही है कि उनकी शिष्य-परम्परा पण्डितजी के लोकोत्तर संगीत का प्रचार करेगी ही, लेकिन साथ-साथ उनके निर्मल चरित्र का आग्रह भी कायम रखेगी।

२०-८-५६

३०

सेवामूर्ति हरिभाऊ फाटक

जिनके स्वभाव और समग्र जीवन के बारे में मुझे नितांत आदर था अथवा है, ऐसे लोगों में मैं दीर्घजीवी स्वर्गस्थ हरिभाऊ फाटक की गिनती करता हूँ। आजन्म ब्रह्मचारी, समाजसेवक, क्रांतिकारी स्वराज्य भक्त, मातृप्रेम से भरे हुए प्रेरणादायी शिक्षक, अनेक रूप से हरिभाऊ का परिचय दिया जा सकता है। लेकिन मैं एक विशेष प्रसंग से ही मेरी इस श्रद्धांजलि का प्रारम्भ करूंगा।

सन् १९२२ में भारत की अंग्रेज सरकार ने गांधीजी को छः साल की सजा की और उन्हें पूना के यरवडा जेल में रखा। वहाँ उन्हें अंत्र-पुच्छ का रोग हुआ जिसे आजकल एपेंडिसाटिस कहते हैं। सरकार उन्हें जेल से सासून हॉस्पीटल में ले आयी। और कर्नल मेडॉक के हाथों उनके पेट पर ऑपरेशन करने का तय हुआ।

ऐसे गंभीर ऑपरेशन के लिये केदी-मरीज की संमति चाहिये, सो तो गाँधीजी ने तुरंत लिख दी। सरकार को इतने परसे संतोष नहीं हुआ। उसने कहा कि आपके विश्वास के किसी दो स्वजनों के नाम दीजिये, जिनको हम ऑपरेशन के समय उपस्थित रख सकें। पूना में तुरंत किसे बुलाना शक्य है, यही सवाल था।

गोखले-भक्त गांधीजी ने प्रथम नाम दिया अपने गुरुभाई श्रीनिवास शास्त्रीजी का जो सर्वन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के अध्यक्ष के नाते

पूना में उपस्थित थे। और दूसरा नाम दिया हरिभाऊ फाटक का। सरकारी कर्मचारी नामदार श्रीनिवास शास्त्रीजी को जानते थे। (भारत सरकार ने किसी समय उन्हें अपने प्रतिनिधि के रूप में दक्षिण अफ्रीका में नियुक्त किया था।) लेकिन 'ये हरिभाऊ फाटक कौन हैं?' कोई उन्हें पहचानता नहीं था। पूना की सामान्य जनता हरिभाऊ को प्रेमादर-पूर्वक पहचानती थी। लेकिन इतने छोटे व्यक्ति को गाँधीजी ने कैसे पसंद किया इसका सबको, अखबार वालों को भी, आश्चर्य हुआ। और स्वयं हरिभाऊ तो बिलकुल आश्चर्यचकित हो गये। कहाँ विख्यात महात्माजी, जिन्हें दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य के "हित-चिंतक भी और दुश्मन भी" के रूप में पहचानती है और कहाँ स्थानिक लोकसेवा करने वाले छोटे-से हरिभाऊ फाटक!

एक क्षण में हरिभाऊ फाटक का देश में और अखबारों में बोल-बाला शुरू हो गया। लेकिन उससे लाभ उठाने का हरिभाऊ को सूझा ही नहीं।

गाँधीजी की आज्ञा (अथवा विशिष्ट परिस्थिति का सरकारी आमंत्रण) मान्य करके हरिभाऊ ऑपरेशन के वक्त उपस्थित रहे। हरिभाऊ को देखकर गांधीजी अत्यंत प्रसन्न हुए। इतनी ही धन्यता लेकर हरिभाऊ घर लौटे और अपने नित्य के सेवाकार्य में डूब गये।

उस समय मैं स्वयं साबरमती जेल में सरकार का मेहमान था। जेल से मुक्त होते ही पूना जाकर अस्पताल में मैं गांधीजी से मिला। बहुत सी बातें हुईं। जब मैंने हरिभाऊ फाटक का जिक्र किया तब महात्माजी बोले "पूना में हरिभाऊ से बढ़कर ऐसा कौन था जिसे मैं अत्यंत नजदीक का स्वजन गिनूं? वे निष्ठावान, त्यागी और पवित्र राष्ट्र-सेवक हैं, उत्तम खादी-भक्त हैं। स्त्रियों के अंदर अच्छा काम करते हैं। पूना की बहनों के मन में इस पवित्र पुरुष के बारे में नितांत आदर है। और मैंने सुना है कि हरिभाऊ स्वभाव के इतने सौम्य हैं कि उनकी

सबसे बनती है। न उनके मनमें किसी से दुश्मनी है, न हरिभाऊ के साथ कोई दुश्मनी करता है।" सन् १९२४ में सुने हुए गांधीजी के शब्द जैसे के वैसे थोड़े ही याद रह सकते हैं ? लेकिन अपने एक घनिष्ठ मित्र के बारे में गांधीजी के मुँह से जो सुना वह इतना अच्छा लगा कि गांधीजी के शब्द नहीं किंतु उनका भाव बराबर याद रहा है।

मैं मानता हूँ कि ऊपर का सारा प्रसंग ही हरिभाऊ के लिये पर्याप्त श्रद्धांजलि है, तो भी अपने संतोष के लिये चार बातें यहां लिखना चाहता हूँ।

सन् १९०८ के दिन होंगे। मैं पूना के फरग्युसन कॉलेज में से बी० ए० पास करके राष्ट्रसेवा में जुड़ गया था। किंतु मेरे पिताश्री का आग्रह था कि कानून का अभ्यास करके बाद में ही राष्ट्रसेवा में लग जाऊँ। मैं एल० एल० बी० का पहला इम्तहान देकर दूसरे की तैयारी में बम्बई जाकर रहा था। इतने में मेरे पिताश्री का देहान्त हो गया और मैं एल० एल० बी० के झंझट से मुक्त हुआ और हमारे नेता श्री गंगाधरराव देशपांडेजी के आमंत्रण से दैनिक 'राष्ट्रमत' में काम करने लगा।

राष्ट्रमत के सिर पर कर्जा हुआ था, उसे दूर करने के लिये श्री देशपांडेजी ने इधर उधर से स्वयंसेवक इकट्ठा किये। उनमें नागपुर, अमरावती की ओर से जो स्वयंसेवक आये उनमें हरिभाऊ फाटक थे। बाबा साहेब परांजपे, श्री ओगले, दत्तोपन्त आपटे, श्री पटवर्धन आदि अनेक लोग राष्ट्रमत में बिना वेतन दिन-रात काम करते थे। मैं भी उनमें शरीक हो गया। हमारा सारा वायु-मण्डल देखकर लोग राष्ट्रमत के कार्यालय को 'राष्ट्रमठ' कहते थे। हम लोगों का आपस का पारिवारिक जीवन इतना सुन्दर था कि उन दिनों साम्यवादी होते तो हमारी ईर्षा करते।

इन लोगों में सबका ध्यान हरिभाऊ की ओर विशेष आकर्षित होता

था; क्योंकि वे अपना नियत काम करते हुए माता की तरह हरएक की चिन्ता रखते थे। हरएक ने बराबर खाया है या नहीं, संकोचशील आदमी को नाश्ता मिला है या नहीं, यह सब देखने का काम हरिभाऊजी का। प्रेम और प्रसन्नता के साथ वे हरएक की दोस्ती करते थे, हरएक के निजी जीवन का ब्यौरा जान लेते थे और प्रेम से सारा वायुमण्डल सुगन्धित करते थे। मैं तो उन्हें "आई" याने माँ ही कहता था। ऐसा विनोद वे सहन कर लेते थे।

मैंने देखा कि पूना की ओर से और व-हाड की ओर से भी कई नवयुवक हरिभाऊजी से मिलने आते थे। दो-चार दिन उनके मेहमान रहकर, प्रेरणा पाकर किसी न किसी राष्ट्रकार्य में जुड़ जाते थे।

राष्ट्रमत में आने के पहले हरिभाऊ आदि सब लोग विदर्भ में एक राष्ट्रीयशाला चलाते थे। मैं भी बेलगाम की एक राष्ट्रीयशाला का आचार्य था, इसलिये हमारी अच्छी दोस्ती बनी थी। थोड़े ही दिनों में सरकार की कृपा से हमारा दैनिक राष्ट्रमत बन्द हुआ। और मैं बड़ोदे की एक राष्ट्रीय शाला का आचार्य बना और हरिभाऊ आदि शिक्षक गोवा में एक राष्ट्रीय शाला खोलने के लिए फोंडा चले गये। वहाँ की कोंकणी भाषा सीखकर वे अच्छा काम करने लगे। उस शाला के द्वारा क्रांति की पूर्व तैयारी करने की योजना थी, लेकिन वह विशेष रूप पकड़ नहीं सकी।

बड़ोदे की राष्ट्रीय शाला भी अंग्रेज सरकार ने चलने नहीं दी। तब मैं आध्यात्मिक साधना के लिये हिमालय में चला गया। गोवा की राष्ट्रीय शाला भी बन्द होने पर हरिभाऊजी पूना लौटे।

फिर तो दक्षिण आफ्रिका से महात्माजी भारत आये (सन् १९१५) और स्वराज्य-साधना में एक नया युग शुरू हुआ। आश्चर्य की बात है कि महाराष्ट्र से गांधीजी को गोखलेजी के नरमदल से एक भी आदमी नहीं मिला। जितने मिले सब के सब हम गरमदल के ही थे। हम

अपने को राष्ट्रीय कहते थे। लोग हमें जहाल अथवा ज्वलज्जहाल कहते थे। (मुलायम स्वभाव के प्रेममूर्ति हरिभाऊ राजनैतिक सिद्धान्त में और स्वराज्य-सेवा में इस जहाल दल के ही थे, हालाँ कि मेरे समान उनके मनमें भी गोखलेजी के प्रति आदर था।) हरिभाऊ गोखलेजी की संस्थाओं से भी अच्छा सम्बन्ध रखते। उनके मुलायम सौम्य स्वभाव के कारण सब लोग उनको चाहते थे, मनमें आदर भी रखते थे। लेकिन समाज में मुलायम लोगों की प्रतिष्ठा कम ही होती है, रुआब नहीं के जैसा।

अकसर देखा गया है कि जो लोग बचपन से नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हैं उनमें से चन्द काफी घमंडी होते हैं। अपने को कोई विशेष आदमी समझते हैं और कुछ हद तक देहरक्खे भी होते हैं। दूसरे की सेवा करने की बात उन्हें सूझती भी नहीं। दूसरे ढंग के ब्रह्मचारी बड़े सेवा-परायण होते हैं, नम्र भी होते हैं। मैंने इसकी चर्चा एक दफे हरिभाऊ से की। तब उन्होंने इतना ही कहा कि "जीवन स्वच्छ और निर्मल रहे इतना बस नहीं, रात को स्वप्नावस्था भी नहीं होनी चाहिये, तभी आदमी अपने को ब्रह्मचारी कह सकता है। मेरी साधना में उतनी कचास (कच्चापन) रह गयी है। मैं कैसे गर्व करूं?"

मैंने ऊपर कहा ही है कि हरिभाऊजी रहने वाले पूना के। राष्ट्रीय शाला चलाने के लिये विदर्भ गये थे। वहां से राष्ट्रमत में आये। उसके बाद काफी समय तक दत्तोपन्त आपटे के साथ फोंडा में (गोवा में) उन्होंने एक राष्ट्रीयशाला चलाई और पूना लौटे।

वहाँ पूना के सार्वजनिक जीवन में वे ऐसे ओतप्रोत हो गये थे कि हर संस्था के साथ और हर सार्वजनिक आदमी के साथ उनका सम्बन्ध था ही। राष्ट्रहित की अनेक प्रवृत्तियाँ खड़ी करते थे। लोगों को प्रेरणा देते थे। खादी प्रचार के तो वे आधार-स्तम्भ ही थे। उनके शिष्यों में से तो कई लोग आज अच्छे नेता बन गये हैं। ऐसा सेवा-परायण कृतार्थ जीवन अभी-अभी पूरा करके इसी साल (१९६७) ता० २७ मई को

ज़ब लोग जवाहरलालजी का स्मृति-दिन मना रहे थे, हरिभाऊ ने अपने जीवन के ६३ साल पूरे करके अपनी जीवन-यात्रा पूरी की।

गांधीजी के सब रचनात्मक कामों में हरिभाऊ पूरी निष्ठा से मदद करते थे। खादी प्रचार, स्त्री-जागृति, अस्पृश्यता-निवारण, मन्दिर-प्रदेश, स्वदेशी गृह-उद्योग आदि हरएक क्षेत्र में उनकी सेवा याद करके लोग आज भी प्रभावित होते हैं। यह सब होते हुए भी उनका मुख्य कार्य तो निर्मल चारित्र्य के द्वारा अनेकों को देश-सेवा में खींचना यही था।

१ अगस्त १९६७

३१

एक पुण्यस्मरण

प्रो० जयशंकर त्रिवेदी

अभी-अभी जब मैं गोपुरी, वर्धा गया था तब मेरे अत्यंत आदरणीय स्नेही स्व० प्रोफेसर जयशंकर त्रिवेदी का पुण्य-दिन था। २४ वर्ष पहले, उसी वर्धा में ता० पाँच मई (१९४१) को उन्होंने अपनी देह छोड़ी थी। प्रो० त्रिवेदी के इकलौते लड़के डॉ० मनुभाई वर्धा में रह कर डॉक्टरी का काम करते हैं और यथाशक्ति समाज की सेवा भी करते हैं। उनके साथ बैठकर साधु चरित प्रो० त्रिवेदी का पुण्यस्मरण करने में कुछ समय बिता सका यह संतोष की बात है।

अंग्रेजी साहित्य के गहरे परिचय और परिशीलन के कारण ब्रिटेन के और यूरोप-अमरीका के बड़े-बड़े मानवता-सेवकों का परिचय हमें आसानी से होता है और जागतिक विभूति के तौर पर हम उनकी कदर और भक्ति भी करने लगते हैं।

यह सब अच्छा ही है। किन्तु अपने ही देश की इतनी ही श्रेष्ठ विभूतियों का परिचय हमें नहीं होता और देश के नवयुवकों को और युवतियों को प्रेरणा पाने के लिये परदेशियों के किस्से याद करने पड़ते हैं यह दर्द की और शर्म की बात है। 'घर की मुरगी दाल बराबर' यह तो हमारे स्वभाव का बड़ा दोष है ही। किन्तु हमारे देश के चरित्र-

वान, तेजस्वी पुरुषों का परिचय भी हमें नहीं होता यह उससे भी ज्यादा दर्द की बात है ।

जिनके प्रति हमारे मन में आदर है, उनका स्वर्गवास होते ही हम लोग इन दिनों चंद स्नेहियों से लेख लिखवाते हैं । चंद पृष्ठों का चरित्र लेखन भी करते हैं । अगर मिल सके तो उनके थोड़े पत्रों का परिशिष्ट के रूप में संग्रह भी छापते हैं । ऐसी एक किताब प्रकाशित करते ही अपना कर्तव्य पूरा हुआ, श्राद्ध सम्पन्न हुआ, ऐसे सन्तोष से सो जाते हैं ।

चारित्र्य-संगठन के लिये और सांस्कृतिक प्रेरणा पाने के लिये देश के नवयुवकों के सामने तेजस्वी विभूतियों के उदाहरणों का संग्रह पेश करने का अभी तक हमें सूझता ही नहीं । यूरोप-अमरीका के परिचित दस-बीस कवियों के नाम के साथ कालिदास और भवभूति के नाम जोड़ दिये तो मानो हमने अपना कर्तव्य पूरा किया, ऐसा अभिमान हम मान लेते हैं । अगर किसी परदेशी ने पूछा कि क्या आपके वहाँ दो ही कवि हो गये ? तो हमारे लोगों को जवाब देना मुश्किल होता है । बार-बार परदेशियों के नाम ही हमें याद आते हैं । और अपने देश के किसी महानुभाव का उदाहरण देना हो तो हमारी फजीहत ही होती है । फिर अगर परदेशी लोग कहें कि आपकी संस्कृति के बड़े-बड़े प्रतिनिधि हाथ की उँगलियों पर गिनने जितने ही हैं, तो क्या आश्चर्य ?

प्रो० त्रिवेदी साहब का एक छोटा-सा जीवन चरित्र और उन्हें अर्पित श्रद्धांजलियों का एक छोटा-सा ग्रन्थ गुजराती में प्रकाशित है सही । लेकिन उसका हिंदी अनुवाद प्रकाशित करके सारे देश को उनका परिचय कराने की जिम्मेदारी किसकी है ?

और उसका हिन्दी अगर हुआ भी तो पढ़ने की तैयारी कितने लोगों की है ? लोग कहते भी हैं कि अगर आप सचमुच चाहते हैं कि हम

कुछ पढ़ें तो आपको अंग्रेजी में ही लिखना होगा। अंग्रेजी में आये बिना किसी भी चीज की सच्ची कदर नहीं हो सकती। देश के लोगों की यह वृत्ति और अभिरुचि देख कई लोग कहते हैं कि हिन्दी में लिखने से लाभ ही क्या है जब पूरे आदर और उत्साह के साथ वह पढ़ा ही नहीं जाता ?

आज तक हम अंग्रेज और अमरीकी लोगों की कदर करते थे। अब अंतर्राष्ट्रीय बनकर अंग्रेजी की मारफत दुनिया के जितने भी बड़े-बड़े लोगों के बारे में जानकारी मिले, उन सब की कदर करने लगे हैं। लेकिन स्वदेश के लोग तो पहले के जैसे ही विस्मृति के गर्त में छोड़े जाते हैं। जो अंग्रेजी में आया सो ही राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय! जो कुछ देशी भाषा के बाहर न आया वह प्रादेशिक, एकांगी अथवा दकियानूसी माना जाता है।

इन दिनों एक और दोष राष्ट्रीय मानस में घुस गया है। हमारा सारा आकर्षण राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित हो गया है। जीवन के दूसरे पहलू चाहे जितने महत्त्व के हों, हमारे अखबारों का और सामान्य जनता का आकर्षण उनके प्रति घटता ही जा रहा है। जो ज्ञानोपासक, समाज सेवक अथवा चिंतनवीर राजनैतिक नहीं हैं उनको तो राजनैतिक नेताओं का आश्रित ही बनना पड़ता है। राजनैतिक नेताओं ने मान्यता दी तो समाज में प्रतिष्ठा मिली, नहीं तो प्रादेशिक अथवा स्थानिक मान्यता से ही संतुष्ट रहना पड़ता है।

प्रो० जयशंकर त्रिवेदी गुजरात की और भारत की अच्छी से अच्छी संस्कृति के उत्कृष्ट प्रतिनिधि थे। गुजरात की सब की सब अच्छाइयाँ उनमें पायी जाती थीं। और इसी कारण महाराष्ट्र की संस्कृतिधानी पूना के महाराष्ट्रियों का आदर उन्हें पूरी मात्रा में मिलता था। अंग्रेजों के राज्य में निर्भयता से देश-भक्तों की कदर और सेवा करने की हिम्मत त्रिवेदी साहब कर सके उसका कारण उनका चारित्र्यबल ही था।

अपना सारा जीवन अनेक क्षेत्रों में समाज की सेवा करने के लिये उन्होंने अर्पण किया। फिर भी उनकी प्रसन्नता और मिलनसारी तनिक भी कम नहीं हुई। महाराष्ट्र के राजनैतिक और सामाजिक नेताओं की कदर जितनी त्रिवेदी साहेब करते थे, इतनी स्वयं महाराष्ट्री भी नहीं करते थे। अध्यापक होने के कारण विद्यार्थियों के जीवन में प्रवेश करना, और उन्हें हर किस्म की सलाह-सूचना और मदद देना त्रिवेदी साहब के लिये स्वाभाविक था ही। किन्तु अस्पताल में जाकर मरीजों की सेवा करने का भी उन्हें शौक था। स्वराज्य के दिनों में सरकारी जेलों में जाकर छोटे-बड़े सब देश-भक्तों को जरूरी चीजें और साहित्य पहुँचा देना यह भी वे स्वाभाविक निडरता से करते थे। उनको रोकने की या डांटने की कोशिश सरकार ने करके देखी। लेकिन सरकार की एक न चली। उनके गोरे प्रिंसिपल ने ही सरकार से कहा कि "ऐसे चरित्र संपन्न, सर्व-हितकारी आदर्श सेवक को मैं कुछ कह नहीं सकता।"

एक सुन्दर उदाहरण याद आता है—

एक दफे दीनबंधु अँन्ड्रूज़ विलायत से भारत लौटे। उन दिनों गांधीजी यरवडा जेल में थे और मैं त्रिवेदी साहब का मेहमान था। गांधीजी से मिलने की सहूलित देखकर श्री अँन्ड्रूज़, मेरे साथ रहने के लिये त्रिवेदी साहब के घर आये और उनके मेहमान हुए। बम्बई सरकार और भारत सरकार के साथ जो पत्र व्यवहार उन्होंने चलाया उसमें पता भी त्रिवेदी साहब के घर का ही दिया जाता था। C.I.D. वालों ने इसका एक बड़ा कांड बनाया और सरकार ने बाकायदा त्रिवेदी साहब से पूछा कि "क्या आपने मि० अँन्ड्रूज़ को अपने घर में ठहराया है?"

त्रिवेदी साहब ने जवाब में लिखा "श्री अँन्ड्रूज़ जैसे सेवा-मूर्ति पवित्र पुरुष को अपने घर में मेहमान के तौर पर रखते मैं गौरव अनुभव करता हूँ।" इतना लिखने के बाद उन्होंने सरकार से नीचे के शब्दों में प्रार्थना की।

"मैं सरकार से अनुनय करता हूँ कि मि० अँन्ड्रूज़ को मेरे घर पर रखने के कारण मेरे खिलाफ कोई कार्रवाई न की जाये, क्योंकि वैसा करने से सारी दुनिया में सरकार की बदनामी होगी, जो मैं पसंद नहीं करता।" ईमानदार सेवक की ऐसी नसीहत माने बिना सरकार को दूसरा चारा ही न था।

गुजरात के और महाराष्ट्र के एक भी सेवक को प्रो० त्रिवेदी अपरिचित नहीं थे और सबके मन में उनके लिये असीम आदर था।

१ जुलाई १९६५

——

३२

साढ़े चार तप[1] के साथी—स्व० चिंतामरा शास्त्री

१९१० का साल होगा। आकाश में हेली धूमकेतु के दर्शन करते हुए मैं ने पहले पहल बम्बई से बड़ौदा का प्रवास किया। यही मेरा गुजरात का पहला प्रवास था। पुण्यस्मृति श्री केशवराव देशपांडे की राष्ट्रीयशाला में राष्ट्रसेवा करने मैं निकला था। उस गंगनाथ भारतीय सर्वविद्यालय में मेरे पहले जो थोड़े महाराष्ट्रीय गुजराती काम करने वाले थे उनमें प्रेम से और सेवा से विद्यार्थियों का दिल जीतने वाले जो थे उनमें श्री चिंतामण शास्त्री जोशी प्रमुख थे। हम उन्हें 'आबा' कहते थे। काका, मामा, आबा, तात्या, भाई आदि घरेलू नाम उसी समय हम सब राष्ट्रीय शिक्षकों को मिले थे। हमारा वह कुल गुरुकुल या ऋषिकुल न होकर विशाल राष्ट्रकुल था। गुजरात और महाराष्ट्र का वह संधिकुल भी था। मराठाओं की मदद से गायकवाड़ और दाभाडे ने गुजरात में राज्य पाया। बड़ौदे के राज्यकर्ताओं में सयाजीराव ऐसे राजा थे जिन्हें अपने को गुर्जराधिपति कहलाने में गौरव अनुभव होता था। बड़ौदा का राज्य गुजरात में दूर दूर तक फैला था। फिर भी सारा राज कारोबार मराठी में ही चलता था। सयाजीराव ने यह प्रणाली तोड़ी और गुजराती को राजभाषा तय कर के समस्त प्रजा का प्रेम संपादन किया। नाराज हुये मराठा सरदारों को संतोष देने के लिये उन्हों ने मात्र अपना

---

१. महाराष्ट्र में बारह वर्ष की अवधि को एक तप कहते हैं।

खानगी कारोबार मराठी में रखा। परन्तु समस्त कारोबार गुजराती में ही चलना चाहिये इस का आग्रह रखा। साथ ही गुजराती की मदद में भारतीय भाषा के तौरपर हिन्दी को बढ़ावा दिया। अंग्रेजों का राज्य था इसलिये अंग्रेजी का स्वीकार किये बिना कोई चारा नहीं था। परन्तु हिन्दी को जितना प्रोत्साहन सयाजीराव ने दिया उतना उस समय और किसी ने नहीं दिया था। कहना होगा, छत्रपति शिवाजी के बाद हिन्दी भाषा की कदर करने वाले मराठी राजा सयाजीराव ही थे। शिंदे-होलकर की बात अलग है। उनका वातावरण उर्दू का था।

बड़ौदा के वातावरण में चितामण शास्त्री और मैं ने गुजराती और हिन्दी को अपनाया तो इस में क्या आश्चर्य ?

परन्तु मेरे आग्रह से चितामण शास्त्री शान्ति-निकेतन गये। वहाँ उन्हों ने बंगाली भाषा और बंगाली संगीत को अपनाया। आगे मैंने उन्हें हिन्दुस्तान के दूसरे सिरे पर सिन्ध को भेजा। वहाँ वे बिलकुल "सिंधजो माणुह" हो गये। देखते देखते सिन्ध के काफी रागों पर काबू कर लिया। बंगाली और सिन्धी बालक शास्त्रीजी की प्रेमल सेवा से इतने मुग्ध और पागल बन जाते थे कि अंग्रेजी की प्रख्यात कविता Pied Piper का तुरन्त स्मरण होता था।

चितामण शास्त्री या शास्त्री महाराज आजन्म ब्रह्मचारी थे। परन्तु कुछ ब्रह्मचारियों की तरह वे अवख या मनुष्य की गंध से भागनेवाले नहीं थे। जिस घरमें जाते, वहाँ के स्त्री-पुरुषों में सहज भाव से घुल-मिल जाते और इसीलिये उनके पावित्र्य का तेज प्रभावी होता था। मुझे लगता है, मैं बड़ौदा गया उसके बाद हमारा गंगनाथ विद्यालय डेढ़ साल ही चल सका। अंग्रेज सरकार की कडुवी नजर सयाजीराव को बाधक हुई और गंगनाथ विद्यालय बंद हो गया। हम सब के नेता केशवराव देशपांडे निवृत होकर ग्रामसेवा में लग गये। मैंने स्वामी आनंद के पीछे तुरन्त हिमालय का रास्ता लिया। गंगनाथ विद्यालय के शास्त्री महाराज जैसे ही एक साथी रामदासी अनंत बुवा मर्ढेकर मेरे साथ हिमालय की यात्रा में चले। हम सब तितर-बितर हो गये। मेरे खयाल में शास्त्रीजी बनारस गये।

बाद में जब उत्तराखंड की यात्रा पूरी कर के और नेपाल में पशुपतिनाथ के दर्शन करके मैं लौटा तब रवीन्द्रनाथ की कविता से प्रभावित होकर मैं शान्ति-निकेतन गया। वहाँ कविश्री ने मुझ से कहा, "संगीत-प्रवीण और चारित्र्यसंपन्न शिक्षक महाराष्ट्र में मिलते हैं यह मुझे मालूम है। मुझे एकाध अच्छा शिक्षक ढूँढ़कर दे सकेंगे क्या?" बनारस जाकर मैंने चिंतामण शास्त्री के स्नेही न्याय विशारद और संगीत शास्त्री को भीमराव शास्त्री होसुरकर और उन के साथ चिंतामण शास्त्री को शान्तिनिकेतन भेज दिया। एक के बदले दो गुणी सेवकों को देने के लिये रविबाबू ने कृतज्ञता व्यक्त की। भीमराव शास्त्री ने बरसों तक संस्कृत और हिन्दुस्तानी संगीत का अध्यापन-कार्य कर के रविबाबू को सर्व प्रकार से संतुष्ट किया।

चिंतामण शास्त्री बंगाल से सिन्ध गये। वहां से बाद में वे कोलाबा जिले में सासवने वैश्य विद्याश्रम में गये। वहां शास्त्री महाराज और उन्हीं के ऐसी निष्ठा वाले श्री काणे गुरुजी दोनों की अच्छी दोस्ती जम गई।

आचार्य ढवण के निमंत्रण से जब महात्मा गांधीजी सासवने गये तब उन की नज़र उन दोनों निष्ठावान शिक्षकों पर ठहरी और उन्होंने जाहिरा तौर पर उन का पुरस्कार किया।

जब स्वराज्य के लिये जोरदार लड़ाई करने का तय हुआ तब जिन अस्सी लोगों को नमक सत्याग्रह के लिये दांडीकूच में गांधीजी ने अपने साथ लिया उनमें हमारे चिंतामण शास्त्री भी थे, इतना कहने के बाद उन का ज्यादा परिचय देने की आवश्यकता नहीं रहती।

शास्त्री महाराज और मेरा प्रथम से घरेलू घनिष्ठ संबंध इतना रहा कि जब उन के बंधु उन से मिलने बड़ौदा आये तब उन्हें अपने पास न ठहराकर मेरे यहां रहने के लिये भेज दिया। शास्त्री महाराज जिस आसानी से मराठी, गुजराती वा हिन्दी में बोल सकते थे, उतनी ही आसानी से संस्कृत भी बोलते थे। एक बार शान्तिनिकेतन में लड़कों की मदद से हमने एक संस्कृत प्रहसन अच्छी तरह खेला था। यह प्रहसन किसी प्राचीन कवि का

लिखा हुआ नहीं था। शास्त्री महाराज ने ही एक मजेदार प्रहसन संस्कृत में लिखा और बंगाली लड़कों को अच्छी तरह तैयार किया। शान्तिनिकेतन के अध्यापक बड़े खुश हुये और शास्त्री महाराज के लड़के अपने संस्कृत उच्चारण पर गर्व करने लगे।

दांडीकूच के बाद शास्त्री महाराज तंबूरापेटी के साथ गांधी-विचार-धारा के परिव्राजक बने।

अंतमें इस परिव्राजक को श्री विनोबा के विसर्जन आश्रम (इन्दौर) ने बाँध रखा और वहीं सुबह-शाम की प्रार्थना चलाते चलाते शास्त्री महाराज ने अपने धन्य जीवन की पूर्णाहुति की। अत्यंत निःस्पृह, सेवा-भावी, राष्ट्रनिष्ठ और संस्कृतिनिष्ठ इस ब्रह्मचारी को आसक्ति थी मात्र बालगोपालों की ओर तरुण विद्यार्थियों की। बच्चों को देखते ही उनका मातृहृदय उछल उठता और उनके लिये कोई भी सेवा करने के लिये वे तैयार रहते। शास्त्री महाराज बच्चों के बीच आनंद करने लगे फिर तो कौन स्वामी और कौन दास इसका निश्चय मुश्किल होता था।

गांधीयुग में स्वराज्य-संस्कृतिकी नींव जिन महाभागों ने डाली उनमें शास्त्री महाराज का स्थान अवश्यमेव सन्मानपूर्ण रहेगा।

१५ अगस्त १९६७

———

३३

महाराष्ट्र का परिमल—स्व० डॉ० लागू

मेरे मन डॉक्टर लागू महाराष्ट्र की विद्याधानी पूना का सुगन्धी परिमल थे। मेरे मन डॉक्टर लागू और महाराष्ट्र का तिलक विद्यापीठ एक ही थे। मेरे मन डॉ० लागू यानी पश्चिम की ऑलोपैथी और भारतीय आयुर्वेद का समन्वय और लोकमान्य का स्वराज और महात्माजी का सर्वोदय—इन दोनों का सर्वकल्याणकारी रसायन।

जब मैं पूना जाता था तब कभी प्रोफेसर त्रिवेदी के यहाँ ठहरता था, कभी नाणावटी परिवार में रहता था। प्रोफेसर पेस्तनजी ड्रायवर कभी मेरे मेजबान बनते थे तो कभी अनाथ विद्यार्थी गृह का आश्रय भी मैं लेता था। इनमें नाणावटी परिवार के साथ तो मैं घुलमिल ही गया। त्रिवेदी साहब ने मुझे पूर्णतया अपनाया। लेकिन महाराष्ट्र के वायुमंडल की आत्मीयता तो मुझे डॉ० लागू के यहाँ ही मिली। महाराष्ट्री संस्कारिता की खुशबू लक्ष्मी रोड पर के डॉ० लागू के घर में अखण्ड पायी जाती थी। डॉ० लागू और उनकी धर्मपत्नी सत्याभामाबाई अतिथिशील महाराष्ट्र के गृहस्थाश्रम के उत्तम प्रतिनिधि थे।

डॉ० लागू का और मेरा सम्बन्ध किस प्रकार का था, बहुत कम लोग जानते हैं। जब मैं बेलगाम के पास शाहपुर में अंग्रेजी चौथे दरजे में पढ़ता था, तब डॉ० लागू के पिता मेरे अध्यापक थे। पांव में कुछ खामी होने के कारण वे स्कूल में लंगड़ाते-लंगड़ाते आते थे, किन्तु विद्या

और चारित्र्य के कारण हम विद्यार्थियों पर उनका प्रभाव इतना था कि उनकी कही एक भी बात की हम अवहेलना नहीं कर सकते थे। लागू मास्टर के दो छोटे भाई हम दो-तीन भाइयों के दोस्त थे। वे हमारे घर आते थे। हम उनके घर जाते थे। जब मैं दस वर्ष का था तब डॉ० लागू का जन्म हुआ। हम शिशु लागू को लेकर खेलते थे, उसका कौतुक करते थे। जब डॉ० लागू कुछ-कुछ बोलने लगे तब की बात है। उन दिनों संस्कारी हिन्दु कुटुम्ब में बच्चे का पिता अपनी वृद्ध माता के सामने अपने बच्चे को प्यार नहीं कर सकता था! एक दिन छोटा बच्चा पिता के अध्ययन कक्ष में पहुँच गया। एकान्त देखकर पिता ने अपने बच्चे को छाती से लगाकर उसे चूमा। यह सब ठीक था। लेकिन बच्चे ने तुरन्त बाहर जाकर सबको जाहिर किया कि "दादा ने मुझे चूम लिया।" बच्चे के लिए यह आश्चर्य की घटना थी। बेचारे पिता! अपनी माता की तरफ देखने को भी संकोच करने लगे! हम लोगों ने यह किस्सा सारे स्कूल में फैलाया। बड़ा आनन्द आया।

फिर तो हमारे लागू मास्टर सांगली गये। राज्य की नौकरी में उन्हें अच्छा स्थान मिला। और हमारा और लागू परिवार का सम्बन्ध नहीं के जैसा रहा।

असहयोग के दिनों में उसी बच्चे को मैंने पूना के एक नेता के तौर पर पाया। और उसमें भी तिलक राष्ट्रीय विद्यापीठ के संस्थापकों में से एक के तौर पर। तब से डॉ० लागू के यहाँ जाकर रहना मेरे लिए इतना ही स्वाभाविक हो गया जितना प्रो० त्रिवेदी के यहाँ।

डॉ० लागू सिद्धांत के पक्के और तेजस्वी किन्तु स्वभाव के मुलायम क्षमाशील और स्नेहपरिप्लुत थे। असहयोग के दिनों में पूना के सार्वजनिक जीवन में और राष्ट्रीय आन्दोलन में डॉ० लागू की मदद सब तरह से उठावदार थी। सब तरह के लोगों को संभालने का काम उन्हीं का। और सेवा करते वे कभी थकते ही नहीं थे। तिलक आयुर्वेद महाविद्यालय आदि अनेक संस्थाओं का भार उन्होंने वहन किया था। उनका घर था सब तरह की संस्कारिता की प्रवृत्तिओं का अखण्ड सम्मेलन।

कौटुम्बिक कठिनाइयाँ झेलते उनको बहुत कष्ट सहन करने पड़े लेकिन वे हारे नहीं। कितनी ही संस्थाओं को उनकी ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी; जिसका ब्यौरा मेरे पास नहीं है।

लोक सभा के प्रथम स्पीकर श्री दादा साहब मावलंकर ने अपने एक लड़के के लिये डॉ० लागू की लड़की को पसन्द करने में अपना गौरव माना। और मेरा तो दोनों परिवारों के साथ घनिष्ठ संबन्ध।

डॉ० लागू ने पूना के सार्वजनिक जीवन में जो आत्मीयता की, आतिथ्य की और उदार सहयोग की परम्परा शुरू की है उसे सम्भालने का और बढ़ाने का कर्तव्य केवल उनके परिवार का नहीं किन्तु उनके विशाल स्नेही मण्डल का भी है। मतभेद के कारण जहाँ आज कल कटुता पैदा होती है, वहाँ डॉ० लागू ने स्नेह भरी मिठास का ही परिचय कराया यह मैं उनकी सर्वोच्च सेवा मानता हूँ।

१५ मई, १९६५

३४

श्री बाबा राघवदासजी

श्री बाबा राघवदासजी के पवित्र जीवन का स्मरण करते चित्त पुलकित होता है। बहुत कम लोग जानते होंगे कि बाबा राघवदासजी का जन्म महाराष्ट्र और कर्णाटक के बीच बेलगाम जिले के पाच्छापुर गाँव में हुआ था। बेलगाम मेरा भी जिला है, हालांकि मेरा जन्म महाराष्ट्र की राजधानी सातारा में हुआ था।

हम दोनों एक ही जिले के होने के कारण बेलगाम कांग्रेस के समय—१९२४ में—हम लोगों ने साथ काम किया था। और वह भी कांग्रेस के लिए स्थापित अस्थाई नगर की सफाई रखने का। महात्मा गांधी स्वयं उस कांग्रेस के अध्यक्ष थे। मैं सफाई का याने भंगी-विभाग का अध्यक्ष था। मैंने इस भंगी काम के लिए डेढ़ सौ स्वयं सेवक पसन्द किए थे, जिनमें अधिकांश ब्राह्मण ही लिए थे। बाबा राघवदास ने बहुत ही अच्छा काम किया।

अगर मैं कहूँ कि बाबा राघवदास सेवा के लिए ही जीते थे तो उसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगी।

लोगों का दुःख देखकर बाबाजी स्वयं दुखी होते थे, पागल से बन जाते थे और मनोवेग से पीड़ित क्षेत्रों की तरफ दौड़ जाते थे। महात्माजी ने कई बार बाबा राघवदासजी की उत्कटता के प्रति अपना आदर मेरे सामने व्यक्त किया था।

श्रीमद्भगवद्गीता और रामायण आदि ग्रन्थों का अध्ययन नव-

युवकों में बढ़ाने की कोशिश बाबाजी ने गोरखपुर वालों की मदद से की थी। बंगाल, असम और ब्रह्म देश के संकट ग्रस्तों को मदद पहुँचाने में बाबाजी का हाथ था।

श्री विनोबाजी के भूदान, ग्रामदान यज्ञ में बाबाजी ने जो प्राण-पन से सेवा की वह तो सारी दुनिया जानती ही है। ऐसे सेवा परायण पवित्र पुरुष का सच्चा स्मारक तभी होगा जब हम अनेकानेक लोग उनको अपने हृदय में स्थापित करेंगे और उनका अनुकरण करेंगे।

१५ जून, १९६१

— --

३५

कुशल कारभारी घोत्रेजी

विनोबाजी ने जिन नवयुवकों को अपने आसपास खींचा था और शुरू से आखिर तक जो अखंड देश सेवा करते रहे, उनमें श्री भाई घोत्रे का नाम अवश्य ही महत्त्व का है।

विनोबाजी का व्यक्तित्व चिन्तनात्मक और रचनात्मक है। उनके बहुत से साथी किसी न किसी रचनात्मक काम में पूरे-पूरे लगे हुए हैं। भाई घोत्रे का व्यक्तित्व संस्था-संचालन में विशेष रूप से प्रकट हुआ था। वे चिन्तक तो थे ही। और इसमें भी केवल कल्पना देने वाले नहीं, किन्तु अनेक कल्पनाओं को व्यवहार की कसौटी पर कसने वाले भी वे थे। उनकी सेवा ज्यादातर महाराष्ट्र की संस्थाओं को मिली। किन्तु गाँधी-सेवा-संघ के संचालन में, जब जमनालालजी और महात्माजी उनको खींचा, तब उनका सम्बन्ध सारे भारत के कार्यकर्ताओं से आया।

यही कारण था कि उनको गांधी स्मारक निधि ने अपनी सेवा में खींच लिया और उन्होंने दिल्ली में रहकर बरसों तक निधि को अपनी सेवा दी।

उनका स्वास्थ्य यूं तो अच्छा रहता था। आशा थी कि दीर्घ काल तक उनकी सेवा का लाभ देश को मिलेगा। लेकिन पता नहीं, भारतीय जीवनक्रम में कौनसी खामियाँ हैं, कई कार्यकर्ताओं का स्वास्थ्य यकायक बिगड़ जाता है। यह कहना कि भारत में जीवन की मीयाद साठ-सत्तर के इर्द-गिर्द ही होती है, वैज्ञानिक ढंग से सोचने का इनकार करना है। जिनका जीवन स्वच्छ है, जिन्हें समाज-सेवा करने

का आनन्द और संतोष अखण्ड प्राप्त है, और जिनमें वंशपरम्परागत कोई कमजोरी नहीं है उनकी आयु-मर्यादा तो महात्माजी के बताये आदर्श की ही होनी चाहिये।

हमारे वैद्य, डाक्टर और निसर्गोपचार के प्रचारक केवल दैववादी न बनकर, वैज्ञानिक ढंग से सोचें कि पूर्ण आयु-मर्यादा तक पहुँचने में कौन-कौनसी बाधायें आती हैं।

धोत्रेजी ने अखंड सेवा का सन्तोष तो प्राप्त किया ही, साथ-साथ, सेवा करते अनेक सज्जनों का स्नेह भी उन्हें प्राप्त था। सच्ची जीवन-सिद्धि तो सज्जनों का स्नेह प्राप्त करने में ही है।

१ जून १९६७

३६

साधुचरित डॉ० हरे कृष्ण दास

किसी अच्छे समाज-सेवक के अविस्मरणीय जीवन का चिन्तन और कीर्तन करने का, और इस तरह अपने चित्त को और वाणी को पावन करने का जब सोचने लगा, तब कितने ही दिवंगत और विद्यमान समाज-सेवकों का एक साथ स्मरण हुआ।

कहते हैं कि कलियुग में बुराई का प्रभाव अधिक होता है। कलियुग की निन्दा करने वाले जानते नहीं कि ईश्वर की कृपा से कलियुग में ही असाधारण लोकसेवकों की और संतों की संख्या अधिक से अधिक होती है। कलियुग के और दोष चाहे जितने हों, संतप्रकृति-लोगों के बारे में उसमें वंध्यत्व नहीं होता।

अपने जीवन में जिन को मैंने देखा है और जिन के जीवन-सुवास का अनुभव किया है, ऐसे कई समाज-सेवक तुरन्त ध्यान में आते हैं।

सबसे पहले स्मरण हुआ परमहँस आश्रम बरहज के बाबा राघव-दास का। क्योंकि वे दरअसल हमारे ही जिले के थे। महाराष्ट्र से बनारस और वहाँ से गोरखपुर तक जाकर उन्होंने सेवा धर्म को अपनाया और उत्कृष्ट हृदय से अनेक क्षेत्रों में काम करते-करते गांधी युग को सम्पन्न किया।

दूसरे ऐसे ही, किन्तु भिन्न कोटि के सत्पुरुष, हरिजन-सेवक और आदिवासी-गिरिजन-सेवक, ठक्कर बापा का स्मरण होता है। उन्होंने इन्जिनियर का अपना पेशा छोड़कर भारत सेवक नामदार गोखले की

संस्था में अपनी सेवा अर्पण की थी, और गांधीजी से हर तरह का बल पाकर भारत के हरिजनों की और गिरिजनों की आमरण सेवा की थी।

ऐसे-ऐसे कितने ही नाम याद आते हैं। किन्तु आज मुझे ऐसे सेवकों की सहस्र नामावली पेश नहीं करनी है। इन संतों में से किसी एक अज्ञात सेवक का नाम लेकर अपने लोगों को उनका परिचय कराना है। सोचता हूँ कि जिनका स्थान कुछ दूर होने से हिन्दी जगत जिन्हें नहीं पहचानता ऐसे किसी सज्जन का परिचय कराऊं। उत्तर की तरफ काश्मीर, दक्षिण की तरफ कन्याकुमारी और पूर्व में प्राग्ज्योतिष् कामरूप तक हमारा भारत फैला हुआ है। तो भारत के किसी एक कोने के किसी सज्जन का परिचय आज कराऊं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार के हेतु, असम प्रांत को जाने का सोच रहा था। इतने में सन् १९३८ में हरिपुरा (गुजरात) कांग्रेस के अधिवेशन में डॉ० हरेकृष्ण दास का और उनके परिवार का मुझे परिचय हुआ। उनके चेहरे की सात्त्विकता देखते ही, उनके प्रति आकर्षण हुआ और उनका, असम प्रदेश की मुलाकात का आमंत्रण मैंने मंजूर किया। देखा कि डाक्टर दास, उनकी धर्मपत्नी और उनकी सुविद्य लड़कियाँ, सबके सब उत्कट सेवाभाव से प्रेरित हैं और उस सेवाभाव का स्रोत उनकी धार्मिकता से ही पैदा हुआ है।

गौहाटी पहुँचते ही पता चला कि हमारे मेजबान डॉ० हरेकृष्ण दास, उनकी तेजस्वी राष्ट्रभक्ति के कारण, सरकारी पेन्शन खो चुके हैं। मैंने यह भी देखा कि असम के अनेक सेवकों को दास बाबू से अच्छी सहायता और प्रेरणा मिलती है।

लेकिन मेरे हृदय पर विशेष प्रभाव इस बात का पड़ा कि दासदंपती अपने घर में कई अनाथ लड़कियों को पूर्ण रूप से अपनाकर रख रहे हैं। किसी को पता भी नहीं चले कि इन लड़कियों में से कौनसी लड़कियाँ दास बाबू की अपनी हैं और कौनसी अपनाई हैं।

मैं असम प्रान्त में अनेक बार गया हूँ। अब तो वहाँ के पूर्व,

पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, सब विभागों के कई कार्यकर्ताओं से मेरा परिचय हुआ है। मैंने देखा, सबों के मन में हरेकृष्ण दास के बारे में एक-सा आदर-भाव है। राजसत्ता कांग्रेस के हाथ में आते ही दास बाबू को उनकी पेन्शन मिली। यह सारा पैसा उन्होंने लोक सेवा में ही लगा दिया। श्रीमती हेमप्रभा देवी अपनी शादी के पहले शिक्षा का काम करती थीं, इसलिये लड़के-लड़कियों को अच्छे से अच्छे संस्कार देकर उनके जीवन उन्नत करने की कला उनमें असाधारण थी। डॉ० हरेकृष्ण दास के देहान्त के बाद उनकी लड़कियों ने पिता का सेवा-कार्य और भी अच्छी तरह से सम्पन्न किया।

डॉ० दास ने दो सेवाश्रम खोले, जिनमें से शरणिया आश्रम का मुझे विशेष परिचय है। उसका प्रभाव भी सारे असम प्रदेश पर गहराई तक पहुँचा हुआ है। असम प्रान्त की आदिवासी लड़कियाँ, शरणिया आश्रम में रहकर, सम्पन्न और सेवाकुशल हुई हैं। शरणिया आश्रम में अच्छी पढ़ाई के साथ, उद्योगहुनर भी सिखाये जाते हैं। उद्योग, कौशल्य, सेवाभाव और धार्मिकता, ये हैं उस आश्रम की विशेषताएं। इसमें आश्चर्य ही क्या है? डॉ० दास ने अपना सारा जीवन और सारा समय और धन-सम्पत्ति भी उसी आश्रम को दे दिये थे।

मैंने देखा कि डॉ० दास सुबह-शाम नियमित रूप से भगवान की प्रार्थना करते थे और उसमें पूरे-पूरे तल्लीन हो जाते थे। वृद्धावस्था के कारण उनके प्रार्थना गीतों में संगीत का माधुर्य विशेष नहीं दीख पड़ता था, किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कितने ही अच्छे-अच्छे गीत उनके मुँह से सुनते, हम गद्‌गद् हो जाते थे।

मैंने देखा कि राजनैतिक क्षेत्र में उनकी निष्ठा गांधीजी के प्रति थी, और इसी कारण उनका हार्दिक समर्थन कांग्रेस पक्ष को ही था। लेकिन वे इतने अलिप्त और निष्पक्ष थे कि कोंग्रेस वालों ने कुछ गलती की, तो साफ-साफ अपना अभिप्राय कहते वे कभी हिचकिचाते नहीं थे। और उनकी विशेषता तो यह थी कि अपनी नापसंदगी जाहिर करने के बाद वे इतने शान्त और तटस्थ रहते थे, कि किसी के बारे में उनके मन में

न कोई विरोध रहता था, न कटुता। मनुष्य-स्वभाव की कमजोरियाँ वे जानते थे। लोगों को सुधारने का प्रयत्न अपने से हो सके, उतना वे करते ही थे। साथ-साथ लोगों के दोष वे दरगुजर भी करते थे। उन का सारा चित्त समाज सेवा में ही लगा रहता था।

जब कभी मैं असम जाता था, तब दूसरे अनेकानेक स्नेहियों के आमंत्रण होते हुए भी मैं दास बाबू के वहाँ ही ठहरता था। मेरे लिये तो शाकाहार का प्रबन्ध करते ही थे, किन्तु इसके अलावा जब तक मैं उनका मेहमान था, वे स्वयं शाकाहारी बनते थे। मैंने उनसे कहा कि "वैसा करने की जरूरत नहीं है। अपना आहार लीजिये, मैं शाकाहार लूंगा। लेकिन खायेंगे दोनों साथ ही।" जब मेरा असम जाना कुछ बढ़ा, तब उन्होंने अपने ही घर में मेरे लिये एक नया अलग कमरा बनाया, जिससे मैं आराम से रह सकूं और सब तरह के लोगों से मिल भी सकूं।

सार्वजनिक जीवन में और समाज सेवा में उनका नैतिक आदर्श बहुत ही ऊँचा रहता था। और इसीलिये लोगों के मन में उनके प्रति सविशेष आदर रहता था।

उनका काम आज उनकी लड़की कुमारी अमल प्रभा बड़ी ही योग्यता से आगे चला रही है। एकनिष्ठ सेवामय जीवन के आदर्श में अमल प्रभा देवी पिता से भी आगे बढ़ी हैं। एक दिन जरूर ऐसा आयेगा, जब सब लोग स्वर्गीय डॉ० हरेकृष्ण दास को अमल प्रभा बाई देव के पिता के तौर पर ही पहचानेंगे। ऐसा भाग्य बहुत कम लोगों को मिलता है। असम के लोग इन साधुचरित पिता-पुत्री के प्रति हमेशा कृतज्ञ ही रहेंगे।

मैं नहीं मानता कि डॉ० दास ने कोई किताबें लिखी होंगी, या कोई व्याख्यान दिये होंगे। किन्तु उनके सेवामय जीवन की सुगन्ध सर्वत्र फैलती रही है, और आज भी अनेकों को प्रेरणा दे रही है। ऐसे समाज सेवकों के द्वारा ही, राष्ट्र का चारित्र्य बनता है और संस्कृति की परम्परा अक्षुण्ण रहती है।

असम की सामाजिक स्थिति का महत्त्व भी हमें ध्यान में लेना चाहिये।

जिस तरह हिमालय के पहाड़, ब्रह्मदेश के पहाड़ और इशान्य देश के पहाड़ मिलकर असम के इर्दगिर्द का जटिल प्रदेश बना है, उसी तरह वहाँ का समाज भी विविध जातियों के सहवास और सहयोग से बना है। पश्चिम की ओर भारत की विशाल भूमि, उत्तर की ओर तिब्बत और चीन का विशाल देश, और पूर्व की ओर उत्तर-दक्षिण पहाड़ों से बना हुआ ब्रह्मदेश, ऐसे तीन राष्ट्रों के सान्निध्य में अपने सवालों को हल करता है असम देश। यहाँ अनेक कुनबों में बंटे हुए नागा लोग, खासी, मिरी, मिश्मी, डफला आदि तरह-तरह की आदिवासी जातियाँ रहती हैं और अपनी-अपनी बोलियाँ बोलती हैं। असमीया और बंगाली लोग भी इस प्रदेश में ओतप्रोत हैं। असम के चायबागान के मजदूर ज्यादातर बिहार से आते हैं। असम में शाक्त धर्म का प्रचार बहुत था। आज भी है। शंकरदेव और माधवदेव जैसे धर्मसुधारकों ने असम प्रान्त में वैष्णव-धर्म का प्रचार जोरों से किया। बंगाल के हिन्दू और मुसलमान इस प्रान्त में फैले हुए हैं ही। और यूरोप के मिशनरी लोगों के प्रभाव से ईसाई धर्म भी वहाँ की पहाड़ी जातियों में दृढ़मूल हुआ है।

इधर उत्तर की ओर महायानी बौध धर्म का असर भी पर्याप्त है।

धर्म, जाति, वंश, भाषा और संस्कृति की सब तरह की विभिन्नता से समृद्ध ऐसा असम देश सामाजिक बातों में अत्यन्त जटिल होगा ही। ऐसे स्थान पर सबों के साथ एक-सी सहानुभूति रखना और पक्षपातरहित प्रेमभाव से सब की सेवा करना उदार सेवकों का ही काम है। ऐसा काम स्वर्गीय डॉ० हरेकृष्ण दास का शरणिया आश्रम कर रहा है।

यही है उस पुण्यात्मा का सच्चा और संतोषकारक स्मारक। आज अगर हम दास बाबू को देखना चाहें तो हमें गौहाटी के पास एक छोटी-सी पहाड़ी पर बसा हुआ शरणिया आश्रम देखना चाहिये, जिसमें अनेक तरह की पहाड़ी लड़कियाँ शिक्षा और जीवन-संस्कार पा रही हैं।

१ मई १९६५

३७

स्व० गोपीनाथजी बरदलै

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के एक संस्थापक सदस्य और असम प्रान्त के प्रधान मंत्री, श्री. गोपीनाथजी बरदलै का देहान्त एक राष्ट्रीय संकट है। भारतमाता के सर्वश्रेष्ठ सुपुत्रों में उनकी गणना होती थी। असम प्रान्त की अनेक जटिल समस्याओं को वे ही संभाल सकते थे क्योंकि सभी पक्ष के लोगों का उनपर विश्वास था। राज्य चलाते वे सिर्फ लोकहित पर ही अपनी दृष्टि एकाग्र कर सकते थे। राजसत्ता का उन्हें तनिक भी मोह नहीं था। कर्तव्यवश होकर ही उन्होंने प्रधान का स्थान लिया था। कई बार उन्होंने उसे छोड़ देने की सोची थी लेकिन महात्माजी की सलाह के कारण वे राजभार वहते रहे। और जब, स्वास्थ्य संभालने की दृष्टि से, गांधीजी ने उनको सलाह दी कि "नये इलेक्शनों में न पड़ो स्वास्थ्य के लिये चार-पांच महीने दे दो," तब असम प्रान्त के लोगों ने वह चीज न मान कर उनको सेवा के क्षेत्र में घसीटा।

महात्माजी के मन में गोपीनाथजी के बारे में बहुत आदर था। असहकार के दिनों में और उसके बाद की विचित्र परिस्थिति में भी जिस धीर गंभीर वृत्ति से गोपीनाथजी ने अपने प्रान्त को संभाला उसकी, गांधीजी के पास, काफी कदर थी।

मेरा उनका सम्बन्ध जितना पुराना था उतना ही घनिष्ट था। कई बार जटिल प्रश्नों की चर्चा हम साथ बैठकर करते थे। असम प्रान्त में असमीया-बंगाली तनाजे के समय बहुत दुःखी होकर वे अपने मनकी

बात मेरे पास करते थे जिस पर से मैं स्पष्ट देख सका था कि उनके मन में बंगाली के विरुद्ध असमीया का तनिक भी पक्षपात नहीं था ।

राष्ट्रभाषा के बारे में उनके विचार सुलझे हुए थे । वे जानते थे और कहते थे कि पड़ोस में पूर्व पाकिस्तान होने के कारण भी उर्दू लिपि का जानना असमीया लोगों के लिये उपयोगी और जरूरी है । जब और लोग हिन्दुस्तानी का पक्ष छोड़ रहे थे, गोपीनाथजी प्रान्तीय हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के अध्यक्ष राजी-खुशी से बने । प्रान्तीय सरकार की नीति विधान सभा के निर्णय के अनुसार ही वे चलाते थे, लेकिन हमारी सभा के कार्यों में उनकी श्रद्धा और दिलचस्पी कम नहीं थी । असम प्रान्त ने अपना एक सर्वोच्च सेवक खोया । भारतमाता ने भी एक चारित्र्यशील, निष्ठावान, महामना, दीर्घदर्शी राष्ट्रपुरुष खोया ।

गांधीजी के सिद्धांतों को पूर्णतया समझकर उन्हीं के अनुसार अपना जीवन और अपने प्रान्त का राष्ट्रीय जीवन बनाने की तत्परता जिन इनेगिने लोगों में पायी गई है उनमें गोपीनाथजी का स्थान अवश्य था ।

श्री. गोपीनाथजी का देहान्त ता: ६ अगस्त को हुआ और ता: १५ अगस्त को असम प्रान्त पर भूचाल की भयानक आफ़त आ पड़ी । अगर गोपीनाथजी जीवित होते तो संकट के समय सारे प्रांत को उनकी सेवा का बड़ा सहारा मिलता । आज इसी बात का संतोष मानना पड़ता है कि श्री. गोपीनाथजी अपने प्रान्त पर आये हुए महान् संकट को देखने की वेदना और विडंबना में से बचाये गये ।

सितम्बर १९५०

३८

निष्ठाधन पेरिन बहन

श्री दादाभाई नवरोजी को भारत के लोग आदर के साथ हिन्द के दादा कहते थे। उन्होंने भारत में और विलायत में भारत के स्वराज्य की अच्छी सेवा की। कांग्रेस के महान् संस्थापकों में उनका नाम मुख्य है।

उनकी चार पौत्रिओं ने उसी सेवा के आदर्श की परम्परा बड़ी निष्ठा से चलायी। नरगिस बहन, गोशी बहन, पेरिन बहन और खुरशेद बहन हरेक की सेवा अपने-अपने क्षेत्र में मशहूर हैं।

इनमें श्रीमती पेरिन बहन कॅप्टन ने गांधीजी का राष्ट्रभाषा प्रचार का काम अपनाया और बम्बई में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना करके बड़ी निष्ठा और उत्साह के साथ उसे अखण्ड चलाया। इन दिनों पेरिन बहन बीमार रहती थी। लेकिन उन्होंने कभी भी आराम नहीं किया। हिन्दुस्तानी के प्रचार के लिए बम्बई की गली-गली में वह घूमीं। हरेक छोटे-बड़े स्कूल में पहुँच कर उन्होंने अपना काम किया। संस्था के लिये जो पैसा मिला उसका खर्च करते कहीं भी उड़ाऊपन नहीं होने दिया। कई लोग उनके पास आये, कई छोड़ गये; लेकिन उनका उत्साह कभी मन्द नहीं हुआ। हिन्दुस्तानी की परीक्षाओं में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी। उसी में से पाठ्य-पुस्तकें बनाने की ओर उनका ध्यान गया। उसी में से साहित्य प्रवृत्ति और संशोधन का महत्व वह समझ गयीं। गांधी स्मारक निधि ने उनकी कार्य-निष्ठा की कदर करके बम्बई हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का मकान बनाने के लिये ५ लाख रुपये का अनुदान दिया। बम्बई सरकार की ओर से मिली हुई जिस जमीन

पर यह मकान बनने वाला था वहाँ पर अब पांच मंजिल का एक अपना बड़ा मकान बनाकर उसमें से दो मंजिल हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को देने का निधि ने निश्चय किया है। सचमुच पेरिन बहन की निष्ठा का ही यह स्मारक होगा। निधि को हमारी सिफारिश है कि सारे मकान का नाम ही पेरिन मंदिर रखा जाय।

पेरिन बहन ने इतनी निष्ठा से जो काम चलाया उसे बन्द नहीं पड़ने देना चाहिये, क्षीण नहीं होने देना चाहिये। बापू भक्त और हिन्दुस्तानी-भक्त पेरिन बहन को हम पूर्ण आदर से अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं।

२५ फरवरी, १९५८

——

३९

प्रतिज्ञावीर पाँचाभाई

अब की बार मैं गुजरात के गाँवों में एक सप्ताह के लिये घूमने गया, तब उसकी पूर्णाहुति मैंने कराड़ी-मटवाड़-दाँडी में की ।

इस दांडी-कराड़ी-मटवाड़ यात्रा में मुझे गुजरात के अजीब टेकीले सत्याग्रही पाँचा पटेल का स्मरण हुआ । उनके स्वराज्य संकल्प के कारण जो भूमि पवित्र हुई है, उसमें उनका स्मरण करके जो रात मैंने बिताई उसे मैं कभी भूल नहीं सकता ।

ये पाँचा पटेल कौन थे ? पाँचा पटेल गुजरात के एक अनपढ़ किसान और दर्जी थे । यह हुआ उनका व्यावहारिक परिचय । मैं कहूँगा कि गांधीजी से प्रेरणा पाकर जिनका टेकीला धर्मतेज सोलह कला से प्रकट हुआ ऐसे वे एक आदर्श स्वराज्य-पुरुष थे ।

पाँचा पटेल सूरत जिले के नवसारी के नजदीक के कराड़ी नाम के एक छोटे गाँव के किसान थे । बचपन में कुछ लिखना-पढ़ना सीख लिया होगा; किन्तु ईमानदारी से खेती करना और दर्जी के काम से थोड़ा कुछ कमाना और हर शनिवार को आस-पास के लोगों को इकट्ठा करके नरसिंह मेहता, मीराँ और कबीर जैसे संतों के भजन से अपने हृदय को और आस-पास के वायुमण्डल को पवित्र करना, यही था उनका जीवन ।

सन्तों की नसीहत से जो हृदय तैयार हुआ था, उसमें गांधीजी का चरित्र पढ़ते ही सत्य की उत्कट उपासना का बीज बोया गया । भूमि तैयार थी और उसमें उत्तम बीज बोया गया । फिर तो पूछना ही क्या ?

गांधीजी जब भारत लौटे, तब पाँचा पटेल उनसे मिले और उनके हर-एक सत्याग्रह में शरीक होने लगे। नागपुर का झण्डा-सत्याग्रह, दाँडी कूच के समय का नमक-सत्याग्रह, धरासणा के सरकारी नमक-संग्रह पर का सत्याग्रही धावा आदि सब आंदोलनों में पाँचा भाई थे ही।

मेरा परिचय पाँचा भाई से उनके सरकारी महसूल न देने के सत्याग्रह के कारण हुआ।

सन् १९२१ में जो बारडोली का आंदोलन शुरू हुआ था, तब उसमें जमीन का सरकारी टैक्स न देने का भी एक आंदोलन था। वह आंदोलन गांधीजी को स्थगित करना पड़ा। लेकिन पाँचा पटेल ने अपनी प्रतिज्ञा स्थगित नहीं की। उनकी प्रतिज्ञा थी कि "जब तक स्वराज्य नहीं मिलता, जमीन का महसूल नहीं दूँगा। भले ही सरकार मुझसे जमीन छीन ले।" कई लोगों ने उनको समझाया कि "टैक्स नहीं देने का आंदोलन जब शुरू ही नहीं हुआ तब आपकी प्रतिज्ञा भी प्रारम्भ नहीं हुई है।" गांधीजी ने उनको समझाने की कोशिश की। लेकिन जब देखा पाँचा पटेल एक लोकोत्तर निष्ठा के प्रतिज्ञावीर हैं, तब उन्होंने उस अनोखे सत्याग्रही को अपने आशीर्वाद दे दिये।

पाँचा पटेल का आजीविका का मुख्य साधन इस तरह चला गया। वे दर्जी का काम करके पेट भर सकते थे, लेकिन उन्होंने तो चर्खा और करघा ही अपनाया और किसी भी तरह से पेट की और राष्ट्र की सेवा करने लगे।

सन् १९३७ में जब एक तरह का प्रांतीय स्वराज्य शुरू हुआ, तब कांग्रेसी सरकार ने किसानों की जमीनें वापस दे दीं, जो अंग्रेज सरकार ने जब्त की थी। इससे तो पाँचा पटेल उलझन में पड़ गये। "ज़मीन वापस लूँ तो टैक्स देना पड़ेगा और स्वराज्य कहाँ मिला है कि टैक्स दे दूँ? और ज़मीन लेकर कांग्रेसी सरकार के खिलाफ टैक्स न देने का सत्याग्रह भी कैसे करूँ? बेहतर है कि मैं ज़मीन ही न लूँ।"

और कांग्रेस सरकार भी किस उसूल पर पाँचा पटेल की ज़मीन अपने पास रखे?

गांधीजी ने रास्ता निकाला और कहा कि "आप ज़मीन लीजिये और राष्ट्रीय काम के लिये दे दीजिये।"

पाँचा भाई पटेल ने वैसा ही किया। पूर्ण स्वराज्य के बाद भी उन्होंने अपनी ज़मीन वापस नहीं ली। कहने लगे कि "जब तक देश में फौज की मदद से राज्य चलता है, तब तक मेरे आदर्श का वह स्वराज्य नहीं है।" उन्होंने और भी दलील की कि गांधीजी ने प्रण किया था कि "जब तक स्वराज्य नहीं मिलेगा, मैं साबरमती आश्रम में रहने नहीं आऊँगा। फिर बताइये, गांधीजी साबरमती आश्रम में रहने आये हैं?"

पाँचा भाई पटेल आखिर तक अपरिग्रही ही रहे और पचहत्तर बरस पूरे करके सत्यनारायण के चरणों में पहुँच गये।

पाँचा भाई पटेल को मैं दो-तीन दफे मिला हूँ। बिलकुल सादे, सरल और शांत प्रकृति के थे। नम्रता की मूर्ति लेकिन टेक के मजबूत। सन्तों की नसीहत योग्य हृदयों में कितनी तेजस्विता प्रकट कर सकती है, इसका पाँचाभाई उत्तम नमूना थे। अबकी बार दांडी गया तब हृदय में जितने गांधीजी भरे हुए थे, उतने ही प्रतिज्ञावीर गांधी-भक्त पाँचा भाई हृदय में रम रहे थे।

उनको श्रद्धांजलि अर्पण करते बड़ा सन्तोष होता है।

१ अप्रैल, १९६५

———

४०

अनन्य सेवा-कुशल राष्ट्रसेवक जसानीजी

जिनकी जीवन निष्ठा के बारे में प्रथम से मेरे मन में आदर था ऐसे थे गोंदिया वाले चतुर्भुजभाई जसानी। उनका बचपन बड़ी कठिनाई में व्यतीत हुआ। शिक्षा संस्कार भी ज्यादा न मिल सके। किन्तु उत्साह से उन्होंने कठिनाइयों का सामना किया और हर तरह की सहूलियतें प्राप्त करके उन्होंने अपने जीवन का, धन का और अपनी कुशलता का लाभ राष्ट्र को पहुँचाया।

श्री चतुर्भुज भाई का परिचय मुझे स्वराज्य आन्दोलन के दिनों में वैलूर जेल में हुआ। जिन लोगों को बचपन से कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनका स्वभाव अकसर खट्टा होता है। शुभाशा उनसे दूर जाती है और संकुचित दृष्टि से ही सोचने की उनकी आदत होती है। श्री जसानी में मैंने यह दोष बिलकुल नहीं पाया। उनमें दिलदार ताजगी शुरू से आखिर तक स्थिर थी। बचपन में जो शिक्षा न मिली उसे किसी भी तरह पाने का एक भी मौका उन्होंने नहीं छोड़ा। ग्रंथ-वाचन, विद्वानों का सम्पर्क और देश का निरीक्षण तीनों में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। हमने जेल में बैठे कई किताबें साथ पढ़ीं। एक दिन मैंने कहा कि गाँधीजी ने यरवडा जेल में गीता का एक पदार्थ कोष बनाया उसी तरह गीता के महत्व के शब्दों का विवरण करने वाला एक कोशभाष्य मैं तैयार करना चाहता हूँ। चतुर्भुज भाई ने कहा, मैं

इसमें आपके साथ रहूँगा। चार महीने तक लगातार कोशिश करके हमने वह कोश तैयार किया।* उनकी मदद न होती तो मुझसे यह काम न हो पाता। प्रथम करीब तीन सौ शब्दों का विवरण लिखा। बाद में चार सौ शब्द उसमें बढ़ाये। सारा काम फिर से स्वच्छ लिख करके तैयार किया और जेल के बाहर आने के बाद उन्होंने वह हस्त-लिखित मेरे पास भेज दिया और लिखा कि इसके प्रकाशन का खर्च मैं दूँगा।

मैंने उनसे वह खर्च न लिया। इसका कारण भी बताना चाहिए। उनके जैसे धनी आदमी के लिए एक पुस्तक के प्रकाशन के हेतु खर्च करना बड़ी बात नहीं थी। लेकिन मैंने देखा कि यह सज्जन अपने पैसे का हमेशा ही सदुपयोग करता है। मेरे काम के लिए पैसे लूँ तो दूसरे कोई अच्छे काम में उतने पैसे कम होंगे।

जब कभी अच्छे काम के लिए धनी लोगों से पैसे मिलते हैं तब मैं मान लेता हूँ कि इनके पास पड़े हुए पैसों का सदुपयोग करने का मौका मैं उन्हें देता हूँ। नहीं तो इनके पैसे फिजूल खर्च में चले जाते। पैसे देने वालों को मैं अकसर धन्यवाद नहीं देता। उलटा कहता हूँ, आपके पैसे का उत्तम उपयोग करने का मौका मैंने आपको दिया इसलिए आप मुझे धन्यवाद दीजिये। आपको परोपकारी कहकर मैं धन्यवाद दूँ तो आपको बिगाड़ने का पाप मुझे लगेगा। चतुर्भुज भाई के बारे में ऐसी स्थिति नहीं थी। वे हमेशा अपना धन, अपनी कुशलता और अपनी सेवा का सदुपयोग ही करते थे।

उन दिनों बोम्बे प्लॉन, एम. एन. रॉय का प्युपल्स प्लॉन आदि योजनाओं का बोलबाला था। जसानी जी ने सभी का अच्छा अध्ययन किया था और उनकी तुलना भी की थी और सभी से उसकी चर्चा करके उनकी व्यावहारिकता और उपयोगिता पर वे अपना अभिप्राय: देते थे।

मैंने देखा कि जसानीजी ने कोओपरेटिव सोसायटी का केवल अच्छा

[यह कोश 'गिता रत्न प्रभा' के नाम से नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित हुआ है।—संपादक]

अध्ययन ही नहीं किया है बल्कि ऐसी सोसायटियाँ स्थापित करके उन्हें चलाई हैं और उस काम के लिए अच्छे-अच्छे नवयुवक भी तैयार किये हैं। मेरे मन जसानीजी की यह उत्तमोत्तम सेवा है। कुशल सबकों के अभाव में अनेक अच्छी योजनाएँ बरबाद होती हैं। जसानीजी ने ब्योरेवार ध्यान देकर अनेक लोगों को तैयार किया और सफलता का पूरा तंत्र देश के सामने रखा।

सर्व धर्म समन्वय के गाँधीजी के विचार में मेरी खास दिलचस्पी देखकर उनको हुआ कि यह भी एक काम है, इसकी तैयारी करनी चाहिए। उनकी हिम्मत देखकर उन्हें संस्कृत सिखाने का भार मैंने उठाया। सातवळेकरजी की संस्कृत प्रवेशिका के चौबीस भाग मंगवाये और बाकायदा पढ़ाई शुरू की। इतने लगन से उन्होंने संस्कृत में प्रवेश किया कि मैं थोड़े ही दिनों में भतृहरि का नीति शतक और वैराग्यशतक उनके साथ पूरा कर सका।

फिर आई कुरान शरीफ की बारी। वह किताब भी हम अंग्रेजी में पढ़ गये। मेरे पास उस ग्रंथ का मराठी अनुवाद था जो अंग्रेजी से कहीं अच्छा था। ईसा मसीह, सेन्ट पोल, थोमस ऐकेम्पीस आदि के बारे में मैंने उनको विस्तार से समझाया। कहने लगे, 'कितना दिलचस्प है यह क्षेत्र। जेल के बाहर जाने के बाद क्या हमें मौका मिल सकेगा कि इस दिशा में हम कुछ करें?' मैंने कहा, 'जैसी भगवान की इच्छा।'

सेवाभाव की दीक्षा जसानीजी को शायद श्री विट्ठलदास जेराजाणी से मिली थी। बम्बई और कलकत्ता दोनों जगह भाटिया सेवादल ने जो काम किया है, दुनिया जानती ही है।

जसानीजी ने श्री जयप्रकाशजी के काम में अच्छी सहायता दी थी। भू-दान में अपनी उत्तम जमीन दी। स्वयं पदयात्रा में शरीक हुए और कार्यकर्त्ताओं से एकरूप होकर सबकी मदद करते रहे।

जब मैंने विश्व समन्वय का काम शुरू किया तब मुझे जसानीजी याद आये। जेल में हमारी जो बातें हुई थीं उसकी याद दिलाकर उनसे

कहने वाला था कि इस काम में धन की मदद धनी लोगों से होगी ही, आप अपनी कुशलता से इस काम को आगे बढ़ाने में सहायक बनिये। भिन्न धर्मी समाजों को एकत्र लाकर सबका जीवन ओत-प्रोत बनाने का और इस तरह परस्पर आत्मीयता बढ़ाने का यह काम है। इसमें धार्मिक वृत्ति के व्यवहार कुशल अनुभवी लोगों की ही मदद सबसे अधिक जरूरी है। मैं उन्हें खत लिखने को सोच ही रहा था कि इतने में गोंदिया से उनके देहांत का समाचार आ पहुँचा। स्वर्गस्थ श्री जमनालालजी के चल बसने पर जैसा दुःख और आघात मुझे हुआ था वैसा ही अबकी बार हुआ।

उनके लड़के उनकी परम्परा आगे चलायेंगे ही। किन्तु कार्य कुशलता में चतुर्भुज भाई ने जिन लोगों को तैयार किया वही उनका विशाल परिवार है। उनकी सारी परम्परा उज्जवल रूप से चलाने की जिम्मेवारी उन सबकी है।

१५ अप्रेल १९६७

४१

सेवावीर बबलभाई

"मेरे विद्यार्थियों ने मेरा जीवन धन्य किया है।"

सन् १९३०-३२ के दिन थे। नमक सत्याग्रह के द्वारा स्वराज के आन्दोलन ने उग्र रूप पकड़ा था। गांधीजी की दाण्डी यात्रा ने सारे देश पर बिजली के जैसा असर किया था। मेरे चन्द विद्यार्थी गांधीजी के सैनिक बनकर दाण्डीयात्रा में शरीक हुए थे और गुजरात विद्यापीठ के मेरे विद्यार्थी और अनेकानेक साथी गुजरात के सब हिस्सों में फैल गये थे और दाण्डीयात्रा के लिये वायु मंडल तैयार कर रहे थे। ऐसे समय पर मैंने किसी की स्वाक्षरीकी पोथी में ऊपर के शब्द लिखे थे।

उन दिनों महाराष्ट्र के एक अखबारनवीस ने विद्यापीठ की मुलाकात ली और हमारे साथ दो-तीन दिन रहकर विद्यापीठ के जीवन के बारे में अपने अखबार में एक लेख लिखा था।

लेख लिखने से पहले उन्होने मुझ से कहा, 'आपकी विद्यापीठ की भावना सचमुच भव्य है। सैनिकों के लिये किये हुए आपके प्रवचन मुड़दे को भी जिन्दा करेंगे। लेकिन आपकी एक बात मुझे बहुत अखरी। प्रार्थना के बाद तुरन्त विद्यार्थियों के नाम पुकारकर उनकी उपस्थिति की नोंध की जाती है। यह तो मुझे कुछ यान्त्रिक-सा लगता है। पवित्र प्रार्थना की भव्यता के बाद यह नामावलि की पुकार शुष्क-सी लगती है।'

जवाब देते मैंने कहा, 'कौन हाजिर है, कौन नहीं है यह जानने के हेतु भले ही यह रिवाज शुरू हुआ हो। लेकिन मेरे लिये तो अपने विद्यार्थियों के नाम सुनना प्रार्थना का ही एक अंग है। ये नाम सुनते मैं वही धन्यता अनुभव करता हूँ जो किसी वैष्णव भक्त को विष्णु-सहस्रनाम सुनते होती है।'

अखबारनवीस के लिये यह कल्पना या दृष्टि नई ही थी। उसने अपने अखबार के लेख में इसी दृष्टि पर कुछ विवेचन भी लिखा था।

उपनिषदों में ऋषि की ओर से शिष्यों का एक अनुशासन आता है। गुरु अपने अंतेवासियों से कहता है, 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, अतिथिदेवो भव' और जाकर कहता है 'आचार्यदेवो भव।' माता-पिता, अतिथि और आचार्य को ईश्वर तुल्य समझने वाले बनो, यह है शिष्यों के लिये आदेश। तब आचार्यों के लिये भी तो कोई आदेश होना चाहिये। छात्रदेवो भव यही हो सकता है वह आदेश। अपने छात्रों को, अपने शिष्यों को देव समझने वाला बनो यानी अपने अंतेवासियों को परमात्मा की विभूति समझो, जिनकी सेवा द्वारा परमात्मा की सेवा-उपासना करने का मौका तुम्हें मिलता है।

छात्रदेवो भव वाले आदर्श और आदेश का पालन करते हुये मैं अपने जिन विद्यार्थियों का समय-समय पर स्मरण करता हूँ उनमें श्री बबलभाई मेहता का भी स्थान है।

देहातों में जाकर वहाँ के लोगों की आदर्श सेवा करने की बात अक्सर करता आता हूँ। दाक्षिणात्य होने के कारण ग्राम सेवा का प्रारम्भ भी मैंने कई दफे किया है। लेकिन कई कारणों की बदौलत मैं वहाँ टिक नहीं सका।

मेरे गाये हुए उस आदर्श को अमल में लाने वालों में जिस तरह श्री जुगतरामभाई हैं उसी तरह श्री बबलभाई भी हैं। फर्क इतना ही है कि जुगतरामभाई शुरू से मेरे साथी थे और बबलभाई विद्यार्थी।

इसके अलावा दोनों में दूसरा एक भेद है। श्री जुगतरामभाई को सेवा के लिए संस्थाएँ खड़ी करने का, उन्हें चलाने का और उनका विस्तार करने का अनुभव है। उसमें उन्हें सफलता भी मिली है। इधर हमारे बबलभाई ने कोई संस्था खोलने का कभी सोचा तक नहीं। वे मुक्त सेवक होकर गुजरात भर में घूमते हैं। और अनेक संस्थाओं में रहकर आत्मीयता से सेवा करते हैं, उनके संचालन में मदद करते हैं और फिर भी अलिप्त के अलिप्त। उनकी अपनी एक भी संस्था नहीं है। इसलिये गुजरात भर सारी संस्थाएँ उन्हीं की हैं।

योग की और कला की व्याख्या करते हुए मैंने दो शब्दों का उपयोग किया है। तादात्म्य और ताटस्थ्य। किसी भी व्यक्ति, ध्येय मूर्ति, संस्था या प्रवृत्ति के साथ समरस और एक जीव होकर सेवा करने में या ध्यान करने में पूरा-पूरा तादात्म्य होना चाहिये। साथ साथ मोहवश न होकर अलिप्त भाव भी उसके साथ होना चाहिये। कोई आदमी शादी करने के लिये किसी लड़की को पसंद करता है तब सौंदर्य का जो ख्याल करता है वह अलग है। और केवल चित्र खींचने के लिये व्यक्तित्व वाला कोई चेहरा पसन्द करता है तब उसकी दृष्टि अलग होती है। जिसमें स्वार्थ नहीं है, अभिमान नहीं है, आसक्ति नहीं है उस वृत्ति को हम ताटस्थ्य कहते हैं। ऐसा तादात्म्य और ताटस्थ्य एक ही वस्तु के प्रति जो एक साथ विकसित करे उसे मैं योगी कहता हूँ। ऐसा अद्भुत सेवा योग बबलभाई ने साधा है। सब व्यक्ति और सब संस्थायें उन्हीं की हैं और तो भी किसी के साथ वे बँधे हुए नहीं हैं। उनका यह सेवा योग सचमुच जीवनयोग है।

सेवा धर्म से प्रेरित होकर जिस तरह वे असंख्य संस्थाओं में घुल-मिल जाते हैं उसी तरह अनेक कुटुम्बों में भी बबलभाई का प्रवेश है। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, वृद्ध-तरुण सबके साथ काम करते उनको तनिक भी संकोच नहीं होता। विनोद वृत्ति और प्रसन्न खुश-मिजाजी इसमें उनकी बहुत मदद करती है। ऐसा होते हुए भी

न कभी मैंने उन्हें देखा, सुना या जाना है कि वे कहीं भी मोह में फँसे है ।

सेवा के कारण लोगों से पैसे मांगना, फण्ड इकट्ठा करना और पैसे-पैसे का ठीक हिसाब रखकर दान का सदुपयोग करना आज की दुनिया में स्वाभाविक और आवश्यक हो गया है। ऐसी प्रवृत्ति जरूरी भी है। सेवायोगी इस प्रवृत्ति में भी अपना कौशल्य दिखाते हैं। लेकिन बबलभाई ऐसी प्रवृत्ति से शुरू से आज तक दूर ही रहे हैं। अलिप्त भाव से प्राप्त साधनों के द्वारा और मुख्यतया सेवा और सहानुभूति के द्वारा जितनी सेवा हो सके उतने से वे सन्तोष मानते हैं। एक ही संस्था में रहने की अपेक्षा जहाँ उनकी सेवा की खास जरूरत हो वहीं वे जाते हैं और सेवा कार्य पूरा होते ही स्थानान्तर करते हैं।

बबलभाई के स्वभाव में स्वाभाविक नम्रता है। बड़ों की सेवा-शुश्रूषा करते उन्हें विशेष रस घुटता है और भगवान ने उनको अपनी नम्रता को विकसित करने के लिये अनेक बुजुर्ग भी दिये हैं। शायद इसके कारण बबलभाई की स्वतन्त्रता और तेजस्विता की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। अनेक कार्य-कर्त्ताओं के वे छोटे भाई हैं।

हमेशा घूमते रहना, पिछड़ी हुई जातियों की और खास करके जरायमपेशा लोगों की सेवा करने लिए परिव्राजक वृत्ति से रहना यही जिनका जीवनव्रत है ऐसे रविशंकर महाराज के अंतेवासी बनकर बबलभाई ने उनका परिचय पाया। चरित्रकार बनकर महाराज की जीवनी बबलभाई ने लिखी है यह यथायोग्य ही है। उस जीवन चरित्र के बबलभाई ने दो विभाग किये हैं। उन दोनों ग्रन्थों के लिए प्रस्तावनाएँ लिखते एक कल्पना मुझे छू गई। बबलभाई का जीवन भी महाराज के ढंग का ही है। उनका जीवन चरित्र भी समाज को मिलना चाहिए। आत्मकथा लिखने की हिम्मत करने वाले साहित्य सेवी अलग ढंग के होते हैं। बबलभाई ने उस वर्ग में अभी तक प्रवेश नहीं किया

है। बबलभाई का चरित्र-चित्रण और किसी को करना जरूरी था। आखिरकार ऐसा एक चरित्रकार अभी उन्हें मिला है। और वह भी विद्यापीठ के वातावरण में पले हुए सेवापरायण, बालकवि श्री सोमाभाई भावसागर।

बालमानस, बालजीवन, बालशिक्षा और बालगीतों का क्षेत्र सोमाभाई ने अपनाया है। जैसे बालक हमेशा के लिए बालक नहीं रहते, दुनिया में दौड़ते-घूमते बड़े बन जाते हैं उसी तरह सोमाभाई की नजर और शक्ति बालक्षेत्र की मर्यादा लांघकर अनेक क्षेत्रों में काम करने लगी है। उन्होंने अपने ढंग की शैली में बबल-भाई का सुन्दर जीवन-चरित्र थोड़े में दिया है, जिससे बबलभाई का अच्छा परिचय पाया जाता है।

इस चरित्र की खूबी यह है कि बबल भाई को आत्मकथा लिखने का उसमें पूरा अवकाश रखा है। इस छोटे से चरित्र की धरती पर अगर बबल भाई अपने सेवामय जीवन के विविध स्मरण लिख डालेंगे और सेवा करते जिन तरह-तरह के व्यक्तियों का परिचय उन्हें हुआ उनके रेखाचित्र भी देते जाएँ तो बबल भाई की लाक्षणिक शैली का साहित्य भी लोगों को मिलेगा।

सभों के प्रति प्रेम, आत्मीयता और आदर रखते हुए हरएक मानव के व्यक्तित्व की खूबियाँ पहचानने की और उनका पृथक्करण करने की शक्ति बबल भाई में है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि यह शक्ति उन्होंने श्री सुरेन्द्रजी से पाई होगी। लेकिन अधिक सोचने पर मालूम होता है कि यह उनके आत्मचिन्तन से ही खिली हुई वस्तु है।

बबल भाई यदि गुजरात के सामाजिक जीवन का इन आखरी पचास साल का इतिहास लिख देंगे तो उसमें ऐसे कई पहलू हमारे सामने आयेंगे, जिनकी ओर राष्ट्र सेवा करने वाले लोगों का भी ध्यान कम ही गया है।

गांधीजी के वातावरण में रह कर बबलभाई ने सत्याग्रह की दीक्षा ली। सत्याग्रही रणशूर भी होता है और सेवावीर भी। सत्याग्रही कभी युद्ध के प्रसंग ढूंढ़ता नहीं और ऐसे प्रसंग आते हिचकिचाता भी नहीं। सेवावृत्ति तो उसका स्थायी भाव होता है। बबलभाई को अपने जीवन में इन दोनों पहलुओं का परिचय देने का मौका मिला है और दोनों का प्रमाण भी यथायोग्य पाया जाता है।

कई लोग ऐसे जंग-रसिये होते हैं कि जहाँ कोई कारण न हो वहाँ भी लड़ने के प्रसंग ढूंढ़ते रहते हैं और न मिले तो खड़े करते हैं। ऐसों के शौर्य की कद्दर करने का जी चाहे तो भी हम भूल नहीं सकते कि ऐसे लोगों का स्वभाव धीरे-धीरे खुराफाती बन जाता है और उनके ऐसे सत्याग्रह को देखकर समाजमानस अकुलाता है। बबलभाई ने अपने जीवन में झगड़ा मोल लिया हो अथवा खड़ा किया हो ऐसा कभी नहीं बना है। जहाँ तक हो सका झगड़े को उन्होंने टाला ही है। जब उन्होंने देखा कि इज्जत भरे निपटारे का अवकाश नहीं है या गरीबों को अन्याय ही होने वाला है तब लड़ लेने को वे पूरी तरह तैयार रहते हैं।

पहलूं ज मनमां त्रेवडीए
होडे होडे जुद्ध नव चडीए
(ने) जो चडीए तो कटका थई पडीए
शिर साटे नटवरने वरीए

(बात-बात में केवल होड़ा-होड़ी में पड़कर लड़ने को तैयार हम न हों। बलाबलका खयाल तो करना ही चाहिए और युक्तायुक्त का भी। उसके बाद यदि युद्ध शुरू किया ही तो फिर या तो विजयी होकर लौटें या युद्ध में फनाह हो जायँ। इस तरह अपने शिर के बदले ही भगवान नटवर की प्राप्ति की साधना करनी चाहिए।)

भक्तयोगी की यह सीख वे कभी भूले नहीं हैं।

श्री बबलभाई के स्वभाव की इस खूबी की ओर मैंने किसी समय महात्माजी का ध्यान खींचा था। शायद इसलिए उन्होंने ऐन मौके पर जबकि पुलिस की गोली ने श्री जयरामदास दौलतराम की जाँघ बींध दी, बबलभाई को कराची भेजा था।

लोगों की शक्ति देखकर उचित मात्रा में उन्हें बोध देना और उनसे क्रमशः जीवन परिवर्तन करवाते जाना बबलभाई की खास हथौटी है। लोक सेवा की उनकी सफलता की कुंजी इसी में है। राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने की बात सूझती तो वे आसानी से लोक नेता बन सकते थे। लेकिन उनको तो लोक सेवक रहने में ही संतोष है। इस हद तक उन्हें हम मोक्षार्थी कह सकते हैं।

जिस तरह उन्होंने अपने लिए विवेचन-शक्ति कमाई है। उसी तरह विवेचन से लोकमानस को प्रभावित करने योग्य वाणी की योग्यता और कलम की खुमारी भी उनके पास है। तो भी साहित्य विलास की ओर वे कभी नहीं मुड़े हैं। शैलीसौरभ पाने के लिए कोशिश करना मानो उनके क्षेत्र में आता ही नहीं। सौरभ को अपने आप खिलने देने का आदेश उन्होंने पसंद किया है।

कल्पना की उड़ानें भरने की आदत यदि बबलभाई ने डाली होती तो ग्राम जीवन को चित्रित करने वाला और आदर्श जीवन की झाँकी कराने वाला कोई उपन्यास लिखने को मैं उन्हें प्रेरित करता। क्योंकि यथार्थ जीवन और आदर्श जीवन दोनों का उन्हें गहरा ख्याल है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि गुजरात के अन्य लोकसेवकों की तरह बबलभाई पूर्व अफ्रिका तक हो आएँ। लेकिन सोमाभाई की लिखी हुई यह जीवनी पूर्व अफ्रिका तक पहुँचने वाली है ही और स्वाभाविक है कि वहाँ के लोगों के मन में बबलभाई के बारे में विशेष जानने का कुतूहल पैदा होगा।

भारत के, खास करके गुजरात के, दो-ढ़ाई लाख लोग पूर्व अफ्रिका में जा बसे हैं। सौ एक साल के उनके निवास के दरमीयान उन्होंने

अपनी शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। लेकिन अब वे वहां विषम परिस्थितियों में फंसे हुए हैं। वहाँ के लोगों को श्री बबलभाई के जैसा कोई नेता मिल जाय तो विषम परिस्थिति को भी भगवान का दिया हुआ अच्छा मौका मानकर उसमें से रास्ता निकालने की और सफलता पाने की तरकीब लोगों को अवश्य सूझेगी।

बबल भाई असली सौराष्ट्र के हैं। सौराष्ट्र का नीतिकौशल्य, सौराष्ट्र की संकल्पदृढ़ता और बहादुरी सब उनके पास है।

गाँधीजी के सीधे वायुमण्डल की तालीम उन्होंने पायी है। जिस किसी क्षेत्र को वे अपनायेंगे उसे प्रकाशित करेंगे ही। किसी समय के वे मेरे विद्यार्थी हैं इसलिए उनके बारे में अधिक नहीं लिखता। मुझे विश्वास है कि उनके हाथों बहुत बड़े-बड़े काम होने वाले हैं।

१ मार्च १९६१

४२

परीक्षितलाल मजमूदार

इस दुनिया से बिदा होने पर जो तरुण हमारा मृत्युलेख लिखने-वाले थे और जिन की ओर से श्रद्धांजलि पाने के हम हकदार थे वे ही इस दुनिया से एक-एक कर के बिदायी लेते हैं और फिर उन्हीं का मृत्युलेख हमें लिखना पड़ता है ! अपने विद्यार्थी के जाने से हृदय की क्या हालत होती है यह बहुत कम लोग पूरी तरह से समझ सकेंगे। आज सुबह एक पुराने आश्रमवासी ने बातों के सिलसिले में कहा कि सुबह के गुजराती अखबार में उन्होंने पढ़ा कि साबरमती हरिजन आश्रम के सर्वेसर्वा श्री परीक्षितलालभाई हृदय के विकार से बिदा हो गये। एक क्षण तो समाचार पर विश्वास ही नहीं बैठ सका। दूसरे क्षण विचार आया कि इस तरह अपने ही सर्वोत्तम विद्यार्थियों के बारे में लिखने की नौबत आ जाय उसके पहले हम ही चले जाते तो क्या हर्जा था ?

मनु भगवान की नसीहत हम ने कब की मान्य रखी है। न मरण की इच्छा करो, न जीने की। हम तो मालिक के आज्ञाधारक किंकर हैं। हुकम की राह देखते रहना और जो भी नौकरी बताई गयी, करते रहना, यही हमारा एकमात्र कर्तव्य है।

नाभिनंदेत मरणं नाभिनंदेत जीवितं।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥

इसलिये किसी के जाने पर अक्सर शोक या आघात नहीं होता। थोड़ा दुख होना स्वाभाविक है, योग्य भी है। हमारा वेदान्त हमें इतना भावनाशून्य न बनावे कि हम बिलकुल सुख-दुःखातीत हो जायँ। सूफी

मत कहता है, बिलकुल सुखदु:खातीत बनना एक नशा है, एक मस्ती है। वहाँ तक पहुँचना अच्छा है, जरूरी है। लेकिन उस मस्ती में रहना सर्वोच्च स्थिति नहीं है। वहाँ पहुँचने पर फिरसे नीचे उतरना, सुखदु:ख का सामान्य असर होने देना यही है साधना की सच्ची सिद्धि। सुखदु:ख से हम अभिभूत न हो जायँ, सुखदु:ख हमारा पराभव न करे, हमारी बुद्धि को कमजोर न करे, हम कर्तव्य-भ्रष्ट न हो जायँ, इतना समत्व रहना ही चाहिये। मनुष्य के मन में चिरशांति होनी चाहिये। लेकिन वह चित्तसागर की गहराई में होनी चाहिये। सागर चाहे जितना गम्भीर हो और उसकी शांति घनिष्ट भी हो, उसके अन्दर प्रवाह तो चलते ही रहते हैं। और सागर के पृष्ठभाग पर लहरें उठती हैं, तूफान आते हैं जाते हैं। सागर ने उन्हें मना नहीं किया है।

जीवन के इस परम रहस्य को याद करना जरूरी हो गया जब श्री परीक्षितलाल मजमूदार के इहलोक छोड़ने का समाचार सुना।

असहयोग के दिनों में ब्रिटिश सरकार से स्वतन्त्र ऐसी राष्ट्रीय विद्यापीठें स्थापन करने का आदेश गांधीजी ने कांग्रेस के द्वारा राष्ट्र-को दिया तब जो बड़ी राष्ट्रीय विद्यापीठें जगह-जगह स्थापित हुईं, उनमें गुजरात विद्यापीठ शायद सर्वप्रथम थी। इस विद्यापीठ के आदिम छात्रों में परीक्षितलालभाई थे। विद्यापीठ की पढ़ाई अच्छी तरह पूरी करके और नम्रता, ध्येयनिष्ठा, सेवापरायणता और पवित्रता आदि सद्‌गुणों की उत्तमता के कारण गुरुजनों का भी आशीर्वाद और आदर प्राप्त करके परीक्षितलाल ने हरिजन-सेवा का कार्य पसन्द किया।

मेरे पास एक छोटी-सी रकम कहीं से आयी थी वह परीक्षितलाल को सौंपते मैंने खत लिखा था। मैंने उन्हें लिखा था कि "आज भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च सेवा हरिजनों की पढ़ाई के द्वारा ही हो सकती है। वही कार्य तुमने पसन्द किया है। इस क्षेत्र में भी एक विशेष सेना अत्यन्त आवश्यक है।

"हरिजन युवकों को तुम अच्छी से अच्छी शिक्षा दोगे। तुम्हारे

सहवास से वे संस्कारी और चारित्र्यसम्पन्न भी होंगे। और तुम्हारा अनुकरण करके वे भी राष्ट्रीय सेवा में जुड़ जायेंगे। करीब सब के सब शादी करना चाहेंगे। उन को अगर शिक्षा-सम्पन्न, चारित्र्यवान और कार्यकुशल सहधर्मचारिणियाँ न मिली तो उनके दाम्पत्य-जीवन का क्या होगा? सवर्णों में से कितनी लड़कियाँ जैसे हरिजनों से शादी करने के लिये तैयार हो जायेंगी?

"अगर ऐसे संस्कारी, सेवापरायण हरिजन युवकों का दाम्पत्य-जीवन छिन्नभिन्न नहीं होने देना है, पक्षाघात-लकवा से उन का जीवन बचाना है तो उनके लिये उन्हीं की जातियों में से संस्कार-सम्पन्न सहधर्मचारिणियां मिलें ऐसा प्रबन्ध अभी से करना चाहिये। मैं आशा करता हूँ, इस विशिष्ट सेवा को तुम अपना जीवन-कार्य बनाओगे।"

पत्र पाते ही नम्रता की मूर्ति परीक्षितलाल ने मुझे लिखा, "आपकी बात बिलकुल सही है। लेकिन ऐसा नाजुक और पवित्र कार्य करने का भार मुझ जैसे अपरिक्व तरुण के सिरपर आप कैसे डालते हैं?" परीक्षितलाल ने जिस शब्द का प्रयोग किया था वह भी मुझे बराबर याद है।

पढ़कर विद्वान होने पर भी नवयुवक पचीस बरस तक पूरा-पूरा होश सँभाल नहीं सकते, इसलिये बीस से पचीस तक की आयु को गुजराती में 'गधा-पचीसी' कहते हैं। मैंने परीक्षितलाल से कहा, "तुम्हारी शक्ति पर और तुम्हारे व्यक्तित्व पर मेरा पूरा विश्वास है। इसलिये तो यह खास काम तुम्हें सौंप दिया। लेकिन मुझे जल्दबाजी नहीं है। अपनी परिस्थिति को समझ लो, सम्भाल लो, लेकिन भूलना नहीं, यही है तुम्हारा जीवनकार्य!"

और आखिरकार हुआ भी ऐसा ही। परीक्षितलाल हरिजनसेवा करते रहे। लेकिन जब स्वराज्य का आन्दोलन बढ़ा और गांधीजी ने 'करेंगे या मरेंगे' के प्रण के साथ सत्याग्रह आश्रम का विसर्जन किया तब पहले तो गांधीजी ने अंग्रेज सरकार को लिखा कि किसानों की जमीन जब्त करते हो तो हमारा आश्रम भी अपने कब्जे में ले लो।

किसान बेघर हो जायँ और हम आश्रम में आराम से रहें यह हो नहीं सकता ।

जब सरकार ने सत्याग्रह आश्रम साबरमती का कब्जा नहीं लिया तब गांधीजी ने उसका एक ट्रस्ट बनाकर वह आश्रम हरिजन सेवा के लिये परीक्षितलालजी को सौंप दिया । और धीरे-धीरे उस आश्रम ने हरिजन कन्या आश्रम का रूप ले लिया । परीक्षितलाल ने हँसकर मेरे पुराने पत्र की याद मुझे दिलायी और कहा कि 'काका साहब, पता नहीं किस मुहूर्त पर आपने वह पत्र लिखा था । हरिजन कन्या की 'केळवणी'-शिक्षा ही मेरा जीवन कार्य बन गया ।'

इसी सिलसिले में दूसरी एक बात भी यहीं पर लिखना जरूरी है । सन् १९३० के आन्दोलन के बाद मैंने गुजरात विद्यापीठ का काम छोड़ देने का निश्चय किया था । गांधीजी और श्री नरहरिभाई परीख दोनों इससे काफी नाराज हुए थे । लेकिन मेरा दृढ़ निश्चय देखकर गांधीजी दूसरे ढंग से सोचने लगे ।

हैदराबाद जेल से मुक्त होकर मैं गांधीजी के साथ हो लिया । वहाँ से लाहौर होकर हम बनारस गये । श्री परीक्षितलालजी भी वहाँ आये थे । आश्रम की बातें उनसे हो रही थी । गांधीजी ने मुझसे कहा, "तुम्हारा विद्यापीठ छोड़ना मुझे पसन्द नहीं है । लेकिन जब छोड़ने पर तुले हुए ही हो तब आश्रम में जाकर परीक्षितलाल के साथ काम क्यों न करो ? तुम्हारा वह प्रिय विद्यार्थी है । आश्रम की स्थापना में तुम्हारा हाथ है ही । परीक्षितलाल को तुम्हारा शिरछत्र मिलने से उसकी शक्ति बढ़ेगी । वह काम भी तुम्हारा ही है ।"

मैंने कहा कि "आश्रम की पवित्र भूमि पर रहना मेरे लिये धन्यता की बात है । परीक्षितलाल के साथ काम करना और भी प्यारा है । लेकिन मेरा निश्चय तो गुजरात छोड़ने का है । आप मेरा कारण जानते हैं । आपको नाराज करना, आपकी आज्ञा न मानना इसकी वेदना सहन करके भी मैं अपने निर्णय पर दृढ़ हूँ ।"

इस तरह मुझे परीक्षितलाल को भी नाराज करना पड़ा। मैं जानता था कि परीक्षितलाल की नम्रता स्वाभाविक और गहरी भले ही हो, उनकी शक्ति तनिक भी कम नहीं है। वे सब काम अच्छी तरह से सम्भाल लेंगे। सब तरह के लोगों को सम्भालना, समझना, प्रसन्न रखना और उनकी शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करना परीक्षितलाल मजमूदार का ही काम था। उनके चेहरे से, बातचीत से रहन-सहन से स्पष्ट होता था कि ब्रह्मचर्य का व्रत उनके लिये तनिक भी बोझा नहीं था। राष्ट्र सेवा से शादी होने के बाद उनकी प्रकृति में ऐसी सुन्दर संस्कारिता आ गयी थी कि किसी भी विकार के लिये वहाँ कुछ स्थान ही नहीं था।

परीक्षितलाल के हाथों हरिजन कन्या आश्रम का सब तरह का विकास ही होता गया। उनको अच्छे साथी मिलते गये। ट्रस्टियों का उन पर पूरा विश्वास था और केवल आश्रम को ही नहीं, समस्त गुजरात के हरिजन कार्य करनेवाले लोगों को और हरिजनों को भी परीक्षितलालभाई का बड़ा आधार था।

परीक्षितलालभाई की मृत्यु का समाचार जिनके मुँह से सुना, उन्होंने कहा, मृत्यु के समय परीक्षित भाई की उम्र पैंसठ साल की थी। अभी भी विश्वास नहीं होता कि परीक्षितलाल भाई इतने बूढे हुए थे।

परीक्षीत भाई के जीवन कार्य का वर्णन मैं क्या करूँ? उनके असंख्य साथी, विद्यार्थी और सहकारी उनका विस्तृत चरित्र लिखेंगे ही। गांधी युग में अगर किसी का प्रेरणादायी पवित्र जीवन-चरित्र हो सकता है तो वह परीक्षित भाई का ही। भले वह युवावस्था में मेरे विद्यार्थी रहे, आज मैं उनको आदर के साथ श्रद्धांजलि ही अर्पण कर सकता हूँ। गांधी युग का एक रत्न भगवान ने इस कर्मभूमि से वापस ले लिया। भगवान की इच्छा।

१ अक्टूबर १९६५